Registration No. V-36244/2008-09 **ISSN :- 2348-0076**

JIFE Impact Factor – 5.21

Samajiki Sandarsh

A Multidisciplinary Quarterly International Peer Reviewed Referred Research Journal

Editor
Dr. Kamlesh Kumar Singh
Assistant Professor
Department of Sociology
Pt. D.D.U. Govt. Girls P.G. College
Sevapuri, Varanasi

Volume - XIII **No. - 3** **(July – Sept. 2025)**

Published by
Future Fact Society
Varanasi (U.P.) India

Samajiki Sandarsh - *A Refereed Journal, Published by : Quarterly*

Correspondence Address :
C 4/270, Chetganj
Varanasi, U.P.-221001
Mobile No. :- 09336924396
Email- samajikisandarsh@gmail.com

Note :-

The views expressed in the journal "Samajiki Sandarsh" are not necessarily the views of editorial board or publisher. Neither any member of the editorial board nor publisher can in anyway be held responsible for the views and authenticity of the articles, reports or research findings. All disputes are subject to Varanasi (Uttar Pradesh) Jurisdiction only.

Managing Editor
Avinash Kumar Gupta

©Publisher

ISSN : 2348-0076

Printed by
Interface Computer, B 31/13-6, Malviya Kunj, Lanka, Varanasi-221005 (U.P.)

ADVISORY BOARD

- **Prof. T. N. Singh,** United Nations Professor of Plant Physiology, Department of Plant Sciences, University of Gondar, Ethiopia (Africa)
- **Prof. Sarswati Singh**, Department of Sanskrit, Faculty of Arts, Banaras Hindu University, Varanasi
- **Dr. Diwakar Pradhan,** Professor in Nepali, Head, Deptt. of Indian Languages Faculty of Arts, Banaras Hindu University, Varanasi
- **Prof. S.K. Bhatnagar,** School for Legal Studies, BBAU, Lucknow
- **Prof. Suresh Prasad Rai,** Former-Head, Department of English, S.Sinha College Aurangabad, Bihar
- **Left. Dr. Munna Singh,** Head, Physical Education Department, Handia P.G. College, Handia, Allahabad, U.P.
- **Dr. Bindeshwar Prasad Mandal,** Head, Department of Sociology, B.N. College, Patna University, Patna (Bihar)
- **Dr. Achchelal Yadav,** Head, Physical Education Department, PDU Rajkiya P.G.College, Saidpur, Ghazipur, U.P.

EDITORIAL BOARD

- **Dr. Sanjay Singh,** Department of Plant Science, University of Gondar, Ethiopia (Africa)
- **Dr. Diwakar Pradhan,** Professor in Nepali, Head, Deptt. of Indian Languages Faculty of Arts, Banaras Hindu University, Varanasi
- **Dr. Nagendra Kumar Singh,** Professor, Department of Journalism & Mass Communication, Mahatma Gandhi Kashi Vidyapith, Varanasi.
- **Dr. Manish Arora,** Associate Professor, Faculty of Visual Arts, Banaras Hindu University, Varanasi
- **Dr. Somu Singh,** Assistant Professor, Faculty of Education, Banaras Hindu University, Varanasi
- **Dr. Surjoday Bhattacharya,** Assistant Professor, Government Degree College, Pratapgarh U P
- **Dr. Upasana Ray,** Associate Professor, National Council of Educational Research and Training, New Delhi
- **Dr. Krishna Kant Tripathi,** Assistant Professor, Deptt. of Education, Central University of Mijoram, Mijoram
- **Dr. Urjaswita Singh,** Assistant Professor, Department of Economics, M.G. Kashi Vidyapith, Varanasi.
- **Dr. Santosh Kumar Singh,** Assistant Professor, P.G. Department of Psychology, J.P. University. Chapra
- **Dr. Ramkirti Singh,** Assistant Professor, Department of Psychology, Gorakhpur University, Gorakhpur

- **Dr. Girish Kumar Tiwari,** Assistant Professor, National Council of Educational Research and Training, New Delhi
- **Dr. Ranjeet Kumar Ranjan,** Assistant Professor, Department of Psychology, J.P. College, Narayanpur, Bihar
- **Dr. Paromita Chaubey,** Faculty of Education, Banaras Hindu University, Varanasi

ଔ

EDITOR'S NOTE

It is a great honour to me to extend my warm greetings and welcome you all to the journal, **Samajiki Sandarsh,** a refereed journal of multi disciplinary research. The journal, which is a peer-reviewed, will devote to the promotion of multi-disciplinary research and explorations to the South Asian and global community. It is our objective to provide a platform for the publication of new scholarly articles in the rapidly growing field of various disciplines. We are trying to encourage new research scholars and post graduate students by publishing their papers so that they may learn and participate in literary publishing through a professional internship. Scholarly and unpublished research articles, essays and interviews are invited from scholars, faculty researchers, writers, professors from all over the world.

Note: All outlook and perspectives articulated and revealed in our peer refereed journal are individual responsibility of the author concerned. Neither the editors nor publisher can be held responsible for them anyhow. Plagiarism will not be allowed at any level. All disputes are subject to Varanasi (Uttar Pradesh) Jurisdiction only.

Hoping all of you shall enjoy our endeavors and those of our contributors.

Editor

CONTENTS

"Samajiki Sandarsh"

➲	शिक्षकों का सामाजिक नेतृत्व एवं सेवाकालीन प्रशिक्षण, अवधारणात्मक विश्लेषण : मगध प्रमंडल के ग्रामीण क्षेत्र में एक समाजशास्त्रीय अध्ययन ***डॉ. ज्योत्सना प्रसाद***	01-05
➲	शीतयुद्धोत्तर काल में भारत की विदेश नीति ***डॉ. राजेश कुमार***	06-08
➲	आलोचनात्मक–नीतिशास्त्र ***डॉ. प्रदीप कुमार पाण्डेय***	09-14
➲	महाकवि भास के कृतित्व में सामाजिक और सांस्कृतिक चिंतन ***डॉ. अशोक कुमार वर्मा***	15-21
➲	पर्यावरण संरक्षण में जनजातीय परंपराएँ : सहरिया और उरांव जनजाति के संदर्भ में ***आरती*** ***डॉ. शिल्पी गुप्ता***	22-26
➲	माध्यमिक स्तर पर राजकीय, अनुदानित एवं स्ववित्तपोषित विद्यालयों में शिक्षणरत् महिला शिक्षिकाओं के समायोजन का तुलनात्मक अध्ययन ***डॉ. एस. पी. सिंह वत्स*** ***अनूप कुमार यादव***	27-32
➲	महिलाओं के विरुद्ध हिंसा की तुलनात्मक प्रवृत्तिः गया जिला में एक मनोवैज्ञानिक अध्ययन ***डॉ. सोनी कुमारी***	33-36
➲	शिलालेखों के आलोक में मौर्य कालीन प्रशासन की सीमांत नीति और विदेशी संबंध ***मोहम्मद खुर्शीद*** ***डॉ. मो. वाकिफ***	37-39
➲	मगध प्रमंडल में किसान आंदोलन का आर्थिक एवं सामाजिक परिप्रेक्ष्य : एक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि ***बिभा कुमारी***	40-43
➲	लोक–संस्कृति और मनोविज्ञान : उत्तर प्रदेश के चित्रकारों की कृतियों का व्यापक विश्लेषण ***चन्दा यादव***	44-47

➲	वर्तमान समय में स्त्री–विमर्श की प्रासंगिकता ***डॉ. ज्योति गौतम***	48-52
➲	झारखण्ड के जंगल और उद्योग : संभावनाएं, संतुलन और सतत विकास ***डॉ. हिमांशु प्रभाकर***	53-58

शिक्षकों का सामाजिक नेतृत्व एवं सेवाकालीन प्रशिक्षण, अवधारणात्मक विश्लेषण : मगध प्रमंडल के ग्रामीण क्षेत्र में एक समाजशास्त्रीय अध्ययन

डॉ. ज्योत्सना प्रसाद*

सार–

यह शोध लेख ''शिक्षकों का सामाजिक नेतृत्व एवं सेवाकालीन प्रशिक्षणः अवधारणात्मक विश्लेषणः मगध प्रमंडल के ग्रामीण क्षेत्र में एक समाजशास्त्रीय अध्ययन है। मगध प्रमंडल के ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षकों की सामाजिक नेतृत्व क्षमता एवं सेवाकालीन प्रशिक्षण के मध्य संबंध का अवधारणात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। शिक्षक केवल ज्ञान का संवाहक नहीं होता, बल्कि वह सामाजिक परिवर्तन का वाहक भी होता है। ग्रामीण समाज में उसकी भूमिका अधिक जटिल एवं बहुआयामी होती है। यह अध्ययन शिक्षकों द्वारा प्राप्त सेवाकालीन प्रशिक्षणों का सामाजिक नेतृत्व क्षमता पर प्रभाव, समुदाय की अपेक्षाएँ, और शिक्षक की सामाजिक भागीदारी की प्रकृति का समाजशास्त्रीय विश्लेषण करता है।

मूल शब्द– सामाजिक नेतृत्व, सेवाकालीन प्रशिक्षण, ग्रामीण शिक्षक, सामुदायिक सहभागिता, एवं शिक्षक की सामाजिक भूमिका आदि।

प्रस्तावना– ग्रामीण भारत में शिक्षक की भूमिका पारंपरिक शिक्षण कार्य से कहीं अधिक विस्तृत है। वह सामाजिक, नैतिक और सांस्कृतिक दिशा निर्धारण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। विशेष रूप से मगध प्रमंडल जैसे सामाजिक–आर्थिक रूप से विविध क्षेत्र में शिक्षक का कार्यक्षेत्र केवल कक्षा तक सीमित नहीं होता, बल्कि वह ग्राम समाज के विकास में एक सक्रिय भागीदार बन जाता है। ऐसे परिप्रेक्ष्य में सेवाकालीन प्रशिक्षणों की गुणवत्ता और प्रासंगिकता को समझना अत्यंत आवश्यक हो जाता है।

शिक्षा समाज के सर्वांगीण विकास की आधारशिला मानी जाती है। यह केवल ज्ञान का हस्तांतरण भर नहीं, बल्कि सामाजिक चेतना, मूल्य निर्माण, और सांस्कृतिक पुनर्रचना की प्रक्रिया का प्रमुख साधन है। इस प्रक्रिया में शिक्षक की भूमिका केवल पाठ्यक्रम के शिक्षण तक सीमित नहीं रहती, बल्कि वह एक सामाजिक नेता, परिवर्तनकर्ता, और समुदाय के प्रेरक के रूप में भी कार्य करता है। विशेषतः भारत जैसे विविधतापूर्ण सामाजिक संरचना वाले देश में, जहाँ ग्रामीण क्षेत्रों की सामाजिक–आर्थिक परिस्थितियाँ अलग–अलग तरह की चुनौतियाँ प्रस्तुत करती हैं, वहाँ शिक्षक की भूमिका और भी अधिक व्यापक और बहुआयामी हो जाती है।

ग्रामीण भारत, विशेषकर बिहार राज्य के मगध प्रमंडल जैसे क्षेत्र, जहाँ सामाजिक संरचनाएँ जाति, वर्ग और परंपरा आधारित हैं, वहाँ शिक्षक की भूमिका केवल शिक्षा देने तक सीमित नहीं होती, बल्कि वह सामाजिक न्याय, समावेशन, महिला सशक्तिकरण, और बाल संरक्षण जैसे मुद्दों में भी सक्रिय भागीदार होता है। ग्रामीण समुदायों में शिक्षक को एक मॉडल नागरिक, सांस्कृतिक मार्गदर्शक, और नीति निर्माण में सहभागी के रूप में देखा जाता है। यह सामाजिक दृष्टिकोण शिक्षक से अधिक उत्तरदायित्वों की अपेक्षा करता है, जिसके लिए उसे न केवल अकादमिक रूप से बल्कि सामाजिक और नैतिक रूप से भी प्रशिक्षित और सशक्त होना चाहिए।

इस संदर्भ में सेवाकालीन प्रशिक्षण का महत्व अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाता है। शिक्षक को नियुक्ति के बाद जो प्रशिक्षण दिए जाते हैं, वे केवल शैक्षिक उन्नयन तक सीमित नहीं होने चाहिए, बल्कि उनमें सामाजिक नेतृत्व के कौशल भी समाहित होने चाहिए। आज आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षकों को नेतृत्व गुण, समुदाय संवाद, सामाजिक न्याय की समझ, और स्थानीय समस्याओं के समाधान हेतु भागीदारी जैसे पक्षों में भी प्रशिक्षित किया जाए। परंतु प्रचलित प्रशिक्षण मॉड्युल में इन आवश्यकताओं को पर्याप्त रूप से सम्मिलित नहीं किया गया है, जिससे शिक्षकों की सामाजिक नेतृत्व क्षमता अधूरी रह जाती है।

मैक्स वेबर (1947) द्वारा प्रतिपादित करिश्माई नेतृत्व के सिद्धांत में यह बताया गया है कि समाज में कुछ व्यक्तियों के पास ऐसी सामाजिक क्षमता होती है जिससे वे लोगों को प्रभावित कर सकते हैं। ग्रामीण

* पी–एच0 डी0, समाजशास्त्र विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया

भारत में शिक्षक इसी प्रकार का नेतृत्वकर्ता होता है जिसकी भूमिका सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों में निर्णायक होती है।[1]

एन. के. सिंह (2010) ने अपने शोध में बताया कि ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षक न केवल शिक्षा का स्रोत होते हैं बल्कि सामाजिक मूल्य निर्माण, महिला सशक्तिकरण और स्वच्छता अभियानों में भी अग्रणी भूमिका निभाते हैं।[2]

एनसीएफटीई (2010) की रिपोर्ट में यह स्पष्ट किया गया है कि शिक्षक प्रशिक्षण में केवल विषयगत ज्ञान नहीं, बल्कि नेतृत्व कौशल, संवाद शैली, और सामाजिक उत्तरदायित्व जैसे आयामों को भी सम्मिलित किया जाना चाहिए।[3]

दीपा कौल (2016) ने बिहार के ग्रामीण विद्यालयों पर अपने अध्ययन में पाया कि अधिकांश सेवाकालीन प्रशिक्षण केवल शैक्षिक दृष्टिकोण पर केंद्रित होते हैं और सामाजिक नेतृत्व पर अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया जाता है।[4]

एएसईआर रिपोर्ट (2018–2023) के अनुसार ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षक समुदाय के लिए एक विश्वसनीय व्यक्ति होते हैं। कई स्थानों पर शिक्षक ही ग्राम विकास समितियों और पंचायत कार्यों में सलाहकार की भूमिका निभाते हैं।[5]

बिहार सरकार की पंचायती राज विभाग की रिपोर्ट (2020) में यह उल्लेख मिलता है कि कई शिक्षक पंचायत प्रतिनिधियों के साथ मिलकर सामाजिक जागरूकता कार्यक्रमों का संचालन करते हैं, परंतु प्रशिक्षण के अभाव में उनकी सहभागिता असंगठित होती है।[6]

कुमार, ए. (2015) शिक्षक एवं सामाजिक परिवर्तनः शिक्षक की भूमिका को केवल ज्ञान प्रदाता तक सीमित न रखकर उसे समाज में परिवर्तन लाने वाले एक उत्प्रेरक के रूप में प्रस्तुत करती है।[7]

शर्मा, आर. (2019) ग्रामीण भारत में शिक्षक नेतृत्वः चुनौतियाँ और संभावनाएँ शोध लेख में ग्रामीण भारत में शिक्षक नेतृत्व की स्थिति का विश्लेषण किया गया है, जहाँ शिक्षकों को प्रशासनिक, सामाजिक और व्यक्तिगत स्तर पर अनेक चुनौतियों का सामना करना पड़ता। शिक्षकों को नेतृत्व देने का अवसर सीमित है, खासकर ग्रामीण क्षेत्रों मेंलेख यह दर्शाता है कि ग्रामीण भारत में शिक्षक नेतृत्व की अपार संभावनाएँ हैं, यदि उन्हें सही प्रशिक्षण और समर्थन दिया जाए।[8]

यूनेस्को (2020) शिक्षक और शैक्षिक नेतृत्व वैश्विक शिक्षा निगरानी रिपोर्ट में यूनेस्को की यह वार्षिक रिपोर्ट वैश्विक स्तर पर शिक्षा प्रणाली में शिक्षकों की भूमिका, चुनौतियों और नेतृत्व की स्थितियों का मूल्यांकन करती है।[9]

मिश्रा, आर.के. (2021) के अध्ययन में बिहार के ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षक प्रशिक्षण की समस्याएँ पर लेख बिहार के ग्रामीण अंचलों में कार्यरत शिक्षकों के प्रशिक्षण से संबंधित व्यावहारिक समस्याओं पर केंद्रित है।[10]

मगध प्रमंडल के अंतर्गत आने वाले जिले– गया, नवादा, जहानाबाद, और अरवल– ग्रामीण और अर्ध–शहरी समाज की मिश्रित झलक प्रस्तुत करते हैं। इन जिलों में शिक्षक न केवल शिक्षण संस्थाओं में कार्यरत हैं, बल्कि सामाजिक मुद्दों, पंचायत बैठकों, स्वच्छता अभियान, बाल विवाह उन्मूलन, और महिला सशक्तिकरण जैसे क्षेत्रों में भी सहभागिता कर रहे हैं। किंतु यह सहभागिता कितनी प्रभावशाली है, क्या वे वास्तव में सामाजिक नेतृत्व की भूमिका निभा पा रहे हैं, और क्या उनके प्रशिक्षण उन्हें इस भूमिका के लिए तैयार कर रहे हैं– यह अध्ययन का मुख्य विषय है।

वर्तमान समाजशास्त्रीय अध्ययन का उद्देश्य इस द्वंद्व को स्पष्ट करना है कि शिक्षकों का सेवाकालीन प्रशिक्षण उनके सामाजिक नेतृत्व को कितना विकसित करता है।

यह शोध शिक्षकों, समुदाय और प्रशिक्षण संस्थाओं के त्रिकोणीय संबंध को समझने का प्रयास करता है। साथ ही, यह भी विश्लेषण करता है कि ग्रामीण समाज शिक्षकों से क्या अपेक्षाएँ रखता है, और वे उन अपेक्षाओं पर कितना खरे उतरते हैं।

इस अध्ययन का महत्व इसलिए भी है क्योंकि यह एक ऐसा क्षेत्रीय दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है जो अब तक प्रायः उपेक्षित रहा है। अधिकतर शोधों में शिक्षक की शैक्षणिक भूमिका को ही केंद्र में रखा गया है, जबकि सामाजिक नेतृत्व की भूमिका को कम आँका गया है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से यदि शिक्षक की भूमिका का मूल्यांकन किया जाए, तो यह स्पष्ट होता है कि एक कुशल शिक्षक वही है जो कक्षा के बाहर भी समाज का नेतृत्व कर सके। इसलिए यह आवश्यक है कि शिक्षक–प्रशिक्षण कार्यक्रमों में सामाजिक नेतृत्व, संवाद कौशल, और समुदाय के साथ समरसता जैसे तत्वों को प्राथमिकता दी जाए। इस शोध लेख के माध्यम

से इसी आवश्यकता को रेखांकित करते हुए मगध प्रमंडल के ग्रामीण शिक्षकों की वास्तविकताओं और संभावनाओं को सामने लाने का प्रयास किया गया है।

अध्ययन की आवश्यकता–

क. शिक्षकों के नेतृत्व गुणों की समाज में भूमिका को समझना।

ख. सेवाकालीन प्रशिक्षण का उनके सामाजिक दृष्टिकोण और नेतृत्व क्षमता पर क्या प्रभाव है, इसका विश्लेषण।

ग. ग्रामीण समाज में शिक्षक की सामाजिक स्वीकार्यता एवं प्रभावशीलता का मूल्यांकन।

अध्ययन का उद्देश्य–

1. मगध प्रमंडल के ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षकों के सामाजिक नेतृत्व का विश्लेषण करना।
2. सेवाकालीन प्रशिक्षणों की भूमिका को सामाजिक नेतृत्व निर्माण के संदर्भ में समझना।
3. समुदाय के साथ शिक्षक की सहभागिता एवं सामाजिक प्रभाव की प्रकृति को पहचानना।
4. इस अध्ययन से समाजशास्त्र के कार्यात्मकतावादी दृष्टिकोण और सैद्धान्तिक एवं समाजिक पृष्ठभूमि का विश्लेषण करना।
5. नेतृत्व सिद्धांतों पर आधारित है। ग्रामीण समाज में शिक्षक एक औपचारिक और अनौपचारिक दोनों प्रकार के नेतृत्वकर्ता के रूप में कार्य करता है।

अनुसंधान पद्धति– गुणात्मक और मात्रात्मक मिश्रित विधि से क्षेत्ररू गया, जहानाबाद और अरवल जिले से 100 प्रतिभागियों का चयन किया गया है जिसमें ग्रामीण शिक्षक, 40 पंचायत प्रतिनिधि, 60 अभिभावक। प्रश्नावली, साक्षात्कार, प्रेक्षण। स्पष्ट होता है कि शिक्षक का सामाजिक नेतृत्व एक सशक्त भूमिका है, किंतु प्रशिक्षण और नीति–निर्माण स्तर पर इस पक्ष की उपेक्षा की जाती रही है। शोध में इस अंतराल को भरने के लिए मगध प्रमंडल के ग्रामीण संदर्भ में शिक्षकों की भूमिका का गहन विश्लेषण आवश्यक है।

परिकल्पना– शिक्षकों, पंचायत प्रतिनिधियों और अभिभावकों के दृष्टिकोणों में कोई महत्वपूर्ण अंतर है।

परिणाम–

प्रतिशत अनुपात विश्लेषण

कथन	शिक्षक (%)	पंचायत (%)	अभिभावक (%)
शिक्षक सामाजिक अभियानों में भाग लेते हैं	88.00%	70.00%	60.00%
प्रशिक्षण से संवाद कौशल में वृद्धि हुई	82.00%	––	––
शिक्षक ग्राम स्तर पर निर्णयों में भागीदार हैं	55.00%	65.00%	50.00%
प्रशिक्षण सामाजिक नेतृत्व पर केंद्रित था	30.00%	––	––
शिक्षक समाज के लिए आदर्श हैं	92.00%	80.00%	76.00%

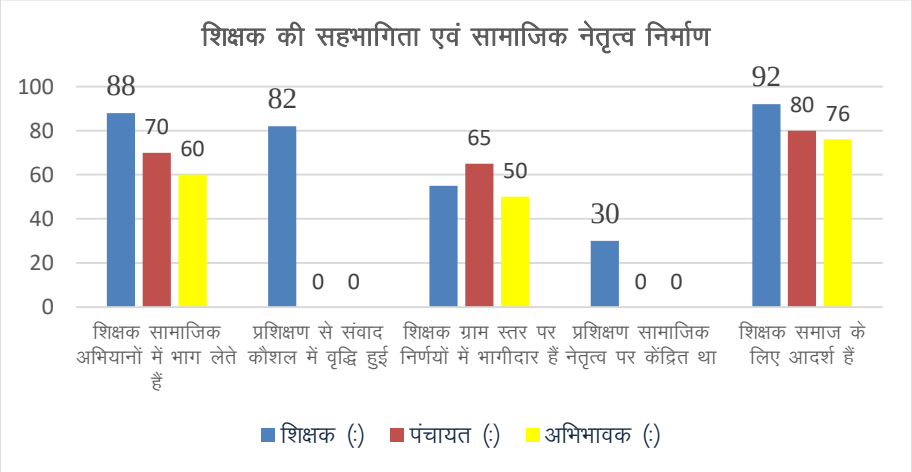

शिक्षकों का आत्ममूल्यांकन सकारात्मक हो सकता है (उच्च स्कोर), जबकि पंचायत प्रतिनिधियों और अभिभावकों की राय कम आत्मविश्वासपूर्ण या मिश्रित हो सकती है। सेवाकालीन प्रशिक्षणों को लेकर तीनों समूहों की राय में महत्वपूर्ण अंतर हो सकता है– विशेषतः प्रशिक्षण की सामाजिक उपयोगिता पर। यदि टी–टेस्ट से $p< 0.05$ आती है, तो मान सकते हैं कि अंतर सांख्यिकीय रूप से महत्वपूर्ण है।

चर्चा–वर्तमान समाजशास्त्रीय अध्ययन का उद्देश्य मगध प्रमंडल के ग्रामीण क्षेत्रों में कार्यरत शिक्षकों के सामाजिक नेतृत्व और सेवाकालीन प्रशिक्षण के आपसी संबंध का विश्लेषण करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु 100 ग्रामीण शिक्षक, 40 पंचायत प्रतिनिधि और 60 अभिभावकों से प्राप्त प्रतिक्रियाओं का विश्लेषण किया गया।

अध्ययन से स्पष्ट हुआ कि ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षक की भूमिका केवल शिक्षण तक सीमित नहीं है। लगभग 88.00% शिक्षकों ने बताया कि वे सामाजिक अभियानों (जैसे कि स्वच्छता, पोषण, बाल विवाह उन्मूलन) में सक्रिय रूप से भाग लेते हैं। पंचायत प्रतिनिधियों में से 70.00% ने स्वीकार किया कि उनके क्षेत्र के शिक्षक विभिन्न ग्राम स्तरीय गतिविधियों में नेतृत्व करते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि ग्रामीण समुदाय में शिक्षक एक मूल्य आधारित सामाजिक नेता के रूप में स्थापित हो रहे हैं।

हालांकि अधिकतर शिक्षक मानते हैं कि प्रशिक्षण से उनकी शिक्षण क्षमता में वृद्धि हुई है, लेकिन सामाजिक नेतृत्व कौशल के विकास में प्रशिक्षण का प्रभाव अपेक्षाकृत कम पाया गया। केवल 30 प्रतिशत शिक्षकों ने यह स्वीकार किया कि उनके प्रशिक्षण कार्यक्रमों में सामाजिक नेतृत्व से संबंधित कोई सत्र शामिल था। पंचायत प्रतिनिधि और अभिभावक वर्गों ने भी यह सुझाव दिया कि प्रशिक्षण अधिकतर पाठ्यचर्या और मूल्यांकन केंद्रित होते हैं। यह इंगित करता है कि वर्तमान सेवाकालीन प्रशिक्षण कार्यक्रमों में सामाजिक आयामों की कमी है, जो कि शिक्षक की ग्रामीण समुदाय में प्रभावशीलता को सीमित करता है।

वहीं अभिभावकों में से लगभग 76 प्रतिशत प्रतिभागियों ने शिक्षक को "समाज के लिए आदर्श" माना, जबकि लगभग 50.00% ने यह माना कि शिक्षक ग्राम स्तर पर निर्णयों में सक्रिय भागीदारी नहीं निभाते। यह द्वंद्व दर्शाता है कि समाज शिक्षक से बहुत अपेक्षाएँ रखता है, लेकिन शिक्षक आवश्यक प्रशिक्षण या मंचों के अभाव में उन अपेक्षाओं पर पूर्णतः खरे नहीं उतर पा रहे हैं। यहाँ यह समझना आवश्यक है कि सामाजिक नेतृत्व केवल नैतिक भूमिका नहीं, बल्कि संवैधानिक और व्यवहारिक सहभागिता भी है, जिसके लिए शिक्षक को रणनीतिक दृष्टिकोण और संवाद कौशल की आवश्यकता होती है।

जबकि टी–टेस्ट द्वारा प्राप्त परिणामों से यह सिद्ध हुआ कि तीनों समूहों (शिक्षक, पंचायत प्रतिनिधि, अभिभावक) के विचारों में सांख्यिकीय रूप से महत्वपूर्ण अंतर है ($p<0.05$)। शिक्षक अपने सामाजिक नेतृत्व को अधिक मूल्यवान मानते हैं, और पंचायत प्रतिनिधि और अभिभावक उसे सीमित या अप्रभावी मानते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि शिक्षक और समुदाय के बीच दृष्टिकोण में एक खाई है, जिसे प्रशिक्षण, संवाद और सहभागिता द्वारा भरा जा सकता है।

निष्कर्ष– वर्तमान समाजशास्त्रीय अध्ययन के माध्यम से यह स्पष्ट हुआ कि ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षक केवल एक शिक्षण कर्मी नहीं, बल्कि सामाजिक नेतृत्वकर्ता, प्रेरक, और सामुदायिक संवाद का सेतु होता है। मगध प्रमंडल के संदर्भ में यह भूमिका और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है, जहाँ सामाजिक ढांचे जाति, वर्ग और परंपरागत सोच से प्रभावित हैं।

1. शिक्षकों की सामाजिक भागीदारी प्रभावी है, विशेषकर सामाजिक अभियानों, ग्राम सभा की बैठकों, और बच्चों के संरक्षण से जुड़े मुद्दों में।
2. सेवाकालीन प्रशिक्षण अधिकतर शैक्षणिक विषयों तक सीमित पाया गया। सामाजिक नेतृत्व, संवाद कौशल, या समुदाय निर्माण जैसे पहलुओं पर प्रशिक्षण की कमी देखी गई।
3. पंचायत प्रतिनिधियों और अभिभावकों की अपेक्षाएँ अधिक थीं, लेकिन वे शिक्षकों की सामाजिक नेतृत्व क्षमता से पूरी तरह संतुष्ट नहीं थे।
4. टी–अनुपात विश्लेषण से सिद्ध हुआ कि शिक्षकों, पंचायत प्रतिनिधियों और अभिभावकों के विचारों में सांख्यिकीय अंतर है कृ विशेष रूप से शिक्षक अपने सामाजिक योगदान को अधिक प्रभावी मानते हैं, जबकि अन्य समूह उसे सीमित मानते हैं।
5. समुदाय और शिक्षक के बीच दृष्टिकोण में एक स्पष्ट अंतर है, जिसे प्रशिक्षण और संवाद के माध्यम से पाटा जा सकता है।

इन निष्कर्षों से यह स्थापित होता है कि जब तक सेवाकालीन प्रशिक्षण में सामाजिक नेतृत्व के तत्वों का समावेश नहीं किया जाता, तब तक शिक्षक की पूर्ण सामाजिक भूमिका विकसित नहीं हो सकती।

सुझाव– सेवाकालीन प्रशिक्षण कार्यक्रमों में केवल शैक्षणिक दक्षता ही नहीं, बल्कि सामाजिक जागरूकता, नेतृत्व कौशल, संवाद कौशल, और संकट प्रबंधन को भी शामिल किया जाना चाहिए। प्रत्येक पंचायत या ग्राम स्तर पर शिक्षक, अभिभावकों और पंचायत प्रतिनिधियों के नियमित संवाद मंच (जन संवाद/शिक्षा चौपाल) आयोजित किए जाएं, जिससे पारदर्शिता और सहभागिता बढ़े। शिक्षक मूल्यांकन प्रणाली में सामाजिक गतिविधियों में सहभागिता, ग्राम विकास योजनाओं में योगदान आदि को नियमित मापदंड के रूप में जोड़ा जाना चाहिए।मगध प्रमंडल जैसे क्षेत्रों की स्थानीय समस्याओं, सामाजिक संरचना और सांस्कृतिक विविधता को ध्यान में रखते हुए स्थानीयकृत प्रशिक्षण मॉड्यूल तैयार किए जाएं। प्रशिक्षण के प्रभाव को मापने के लिए Follow–नच रिपोर्टिंग और फील्ड ऑब्जर्वेशन की व्यवस्था की जाए, ताकि यह सुनिश्चित हो सके कि प्रशिक्षित शिक्षक अपने व्यवहार में सामाजिक नेतृत्व प्रदर्शित कर रहे हैं या नहीं। साथ ही शिक्षकों को ग्राम स्तरीय सामाजिक विकास कार्यों में योगदान हेतु मान्यता और प्रोत्साहन (Certificate, Incentives, Public Felicitation) प्रदान किया जाए।

अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि शिक्षक न केवल शिक्षा व्यवस्था का स्तंभ है, बल्कि समाज निर्माण की प्रक्रिया में भी एक केंद्रीय भूमिका निभा सकता है कृ बशर्ते उसे उचित प्रशिक्षण, मंच, और मान्यता प्रदान की जाए। यदि शिक्षा प्रणाली सामाजिक नेतृत्व को प्रशिक्षण का अभिन्न हिस्सा बना ले, तो शिक्षक समाज में परिवर्तन के अग्रदूत बन सकते हैं।

संदर्भ सूची–

1. वेबर, मैक्स (1947), सामाजिक और करिश्माई नेतृत्व का सिद्धांत। न्यू योर्क, ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस।
2. सिंह, एन.के. (2010), ग्रामीण शिक्षा में शिक्षक की भूमिका। पटना– बिहार विद्यापीठ प्रकाशन।
3. एनसीएफटीई (2010), शिक्षक शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा, एनसीईआरटी, नई दिल्ली।
4. कौल, दीपा (2016), ग्रामीण बिहार में सेवाकालीन शिक्षक प्रशिक्षण और नेतृत्व। जर्नल ऑफ एजुकेशनल प्लानिंग एंड एडमिनिस्ट्रेशन, वॉल्यूम। 30(2)।
5. एएसईआर रिपोर्ट (2018–2023), शिक्षा रिपोर्ट की वार्षिक स्थिति। प्रथम फाउंडेशन।
6. बिहार सरकार (2020), पंचायती राज विभाग की प्रगति रिपोर्ट। पटना।
7. कुमार, ए. (2015), शिक्षक एवं सामाजिक परिवर्तन। वाराणसी– ज्ञान गंगा प्रकाशन।
8. शर्मा, आर. (2019), ग्रामीण भारत में शिक्षक नेतृत्वः चुनौतियाँ और संभावनाएँ। इंडियन जर्नल ऑफ सोशल वर्क, वॉल्यूम। 80(1)।
9. यूनेस्को (2020), शिक्षक और शैक्षिक नेतृत्व, वैश्विक शिक्षा निगरानी रिपोर्ट।
10. मिश्रा, आर.के. (2021), बिहार के ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षक प्रशिक्षण की समस्याएँ। पटना यूनिवर्सिटी रिसर्च जर्नल।

शीतयुद्धोत्तर काल में भारत की विदेश नीति

डॉ. राजेश कुमार*

पुरानी दो ध्रुवीय व्यवस्था बदल गयी थी। अमेरिका की शक्ति को विफल करने वाला सोवियत संघ अब अनुपस्थित है। भारत की विदेश नीति के पुराने ढाँचे ने अब तक भारत के लिए अच्छा काम किया था, लेकिन नई अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था में उसे कई चुनौतियों का सामना करना पड़ा। परानें ढाँचे के अनेक तत्व जैसे असंलग्नता, गुटनिरपेक्षता, आदर्शवाद निश्चय ही हमारे लिए मार्गदर्शक रहे, लेकिन भारत को अब इससे आगे जाने की और नए मोर्चेबंदी की जरूरत है। इसलिए पुराने मापदंड की जगह नए मापदंड को स्थापित करने की जरूरत है। हम अतीत के बंदी नहीं बने रह सकते थे।[1]

शीत युद्ध के अन्त, वैश्वीकरण की तीव्र प्रक्रिया तथा अन्तर्राष्ट्रीय चुनौतियों के विकास ने भारत को अर्न्तराष्ट्रीय वातावरण के अनुकूल बनने के लिए अपनी विदेश नीति में नवीनता लाने के लिए बाध्य किया। हलांकि इन चुनौतियों का सामना करते समय भारत ने नीति निर्माण में स्वायत्तता बनाये रखने के लिए अपनी नीति के मौलिक सिद्धान्तों में निरन्तरता बनाये रखी। इसमें सभी देशों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखना, शान्तिपूर्ण साधनों से विवादों का निपटारा और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के संचालन में निष्पक्षता बनायें रखना शामिल है। भारत की स्वत्रंत्र विदेश नीति का अनुसरण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में बहुध्रुवीयता को बढ़ावा देने की औपचारिक प्रतिबद्धता है।[2] सोवियत संघ के विघटन से भारत का अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव अवश्य कम हुआ। यद्यपि भारत ने सामान्य हितों के कारण भूतपूर्व सोवियत संघ के उत्तराधिकारी रूस से अपने प्रबल सम्बन्ध बनाये रखा। सोवियत रूस द्वितीय बड़ा आर्थिक साझेदार था तथा वह भारत को सैनिक उपकरण प्रदान करने वाला प्रदायक था। परन्तु भारत को रूस के साथ मौलिक स्तर पर लगभग हर समझौते पर पुनः बातचीत करनी पड़ी थी।[3]

शीत युद्ध के बाद के परिदृश्य में भारत की विदेश नीति के सन्दर्भ में 1991 का वर्ष एक निर्णायक क्षण था। एक तरफ सोवियत संघ का पतन एवं विघटन तथा दूसरी ओर वैश्विकरण की प्रक्रिया में तेजी ने भारत को विदेश नीति के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण बदलाव किया। विदेश नीति में स्पष्ट बदलाओं में से एक 1991 में शुरू की गयी 'लुक ईस्ट पॉलिसी' के माध्यम से आया। दूसरा महत्वपूर्ण बदलाव विदेशी आर्थिक नीति के क्षेत्र में था क्योंकि भारत ने विदेशी निवेश के लिए अपने दरवाजे खोलने, वैश्वीकरण के माध्यम से चुनौतियों का सामना करने और वैश्विक बाजार अर्थव्यवस्था का हिस्सा बनने का फैसला किया। अगले तीन दशकों में कई अन्य महत्वपूर्ण कदम उठाये गये। इनमें अमेरिका, रूस, चीन, ब्रिटेन और यूरोपीय संघ जैसे प्रमुख खिलाड़ियों के साथ रणनीतिक साझेदारी शामिल है।

भारत के आकलन में संयुक्त राष्ट्र तथा विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष आदि समकालीन संरचनाएं वर्तमान समय के राजनीतिक और आर्थिक संकट से निपटने में अपर्याप्त साबित हुई। भारत संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद में सुधार सहित संयुक्त राष्ट्र में सुधार चाहता है। भारत के बढ़ते कद को मान्यता देते हुए कई देशों ने सुरक्षा परिषद में स्थायी सीट के लिए भारत का समर्थन किया।[4]

आर्थिक कूटनीति किसी देश के आर्थिक हितों को पूरा करने भर का ही माध्यम नहीं है बल्कि यह राजनीतिक एवं रणनीतिक हितों को पूरा करने का महत्वपूर्ण साधन है। वरना हम इस तथ्य को कैसे परिभाषित करेगें कि चीन अनेक राजनीतिक एवं रणनीतिक मतभेदों तथा संघर्षमय अतीत के बावजूद विदेश व्यापार में भारत का बड़ा भागीदार है। वैश्वीकृत युग में भारत की आर्थिक कूटनीति में भी आमूल बदलाव आया है, जो कि उसकी आर्थिक बृद्रि और क्षमताओं के अनुरूप है। पूरब से लेन–देन बढ़ाने, दक्षिण–दक्षिण सहयोग, अफ्रीका, यूरापीय संघ, इब्सा, ब्रिक्स आदि को नए सिरे से तवज्जों देने जैसी भारत की विदेश नीति सम्बन्धी सभी प्रमुख द्विपक्षीय एवं बहुपक्षीय पहल मुख्यतः आर्थिक तर्क से प्रभावित हैं।[5]

भारत की स्वत्रंत्रता के तुरन्त बाद पंडित नेहरू ने कहा था कि 'हमारी विदेश नीति के उद्देश्य विश्व शान्ति का संरक्षण और मानव स्वतंत्रता का विस्तार है।' उन्होंने आज के आदर्शवाद को कल के यथार्थवाद के रूप में भी वर्णित किया। जब श्रीमती इंदिरा गांधी प्रधानमंत्री बनी तो उन्होंने भारत की विदेश

* असि0 प्रो0 – राजनीति विज्ञान, राजकीय महाविद्यालय, नौगढ़, चन्दौली।

नीति के यथार्थवादी पहलुओं पर अधिक ध्यान दिया। हमनें 1974 में परमाणु परीक्षण किया। हम अंतरिक्ष में गये और जुलाई 1980 में हमनें पहला उपग्रह प्रक्षेपित किया। इस यथार्थवाद का अनुसरण बाद की सरकारों ने भी किया।[6] 1998 में भारत ने परमाणु परीक्षण कर यह घोषणा कर दी कि वह परमाणु हथियार सम्पन्न राष्ट्र है।

पहले की तुलना में आज भारत की विदेश नीति में भारत के आर्थिक हितों आगे बढ़ाने की जरूरत है। आर्थिक हितों को प्राप्त करने का दबाव सुरक्षा के दबाव से कम महत्वपूर्ण नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों में अब अधिक परम्परागत भू–राजनीतिक विचारों को स्थानीय प्रतिष्ठा में हिस्सेदारी करनी चाहिए। क्षेत्रीय स्थिति, भारत की सुरक्षा को मिल रही चुनौती, भारत की सीमाओं के चारों तरफ परमाणु शस्त्रीकरण, देश की सीमाओं के पार से पड़ोसी राष्ट्रों के द्वारा प्रायोजित आतंकवाद ये सभी तत्व भारत को चिंतित रखने तथा सतत् चौकसी बरतने के लिए अवश्य प्रेरित करते हैं। भारत को अपने पड़ोस की सच्चाइयों के अनुरूप कार्य करना पड़ता है।[7]

भारत की आर्थिक आवश्यकताएं समान रूप से विदेश नीति को प्रभावित करती रहेंगी। नए अर्न्तराष्ट्रीय युग में बिना बेहतर आर्थिक कूटनीति के देश के आर्थिक हितों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है। हमें अपनी प्राथमिकताएं सही रूप में सामने रखनी चाहिए और इन प्राथमिकताओं में यह भी होना चाहिए कि भारत के विदेशों से आर्थिक सम्बन्धों और आर्थिक विकास की आवश्यकताओं पर निरन्तर ध्यान रहे।

भारत के पास विशाल मध्यम वर्ग की आबादी है। भारत के पास व्यवसाय प्रबन्धन की इतनी बड़ी पलटन है, जितना चीन सहित बहुत से देश संख्या और गुंण की दृष्टि से होने का दावा नहीं कर सकते। भारत का औद्योगिक ढांचा भी सर्वाधिक उन्नत स्थिति में है। भारत जैसा देश जो आकार, आबादी, संसाधन और कार्यकौशल से सम्पन्न है, उसकी उपेक्षा असम्भव है। खासतौर से तब जब विश्व की दो सबसे बड़ी अर्थव्यवस्थाओं में भयंकर प्रतिस्पर्धा हो, बाजार को कब्जाने के लिए आपस में विरोध के स्तर पर झनझनाहट हो।[8]

भारत की विदेश नीति के सभी अध्येता इस बात से सहमत है कि आजादी के बाद से एक बहुत लम्बी अवधि तक हमने आदर्शवाद पर आधारित विदेश नीति को चुना लेकिन अब हमारी विदेश नीति में यथार्थवाद के तत्व स्पष्ट रूप से दिखाई दे रहें हैं। आज भारत अपने राष्ट्रीय हितों के आधार पर दुनिया में कदम बढ़ा रहा है। भारत दुनिया में अपनी स्वत्रंत्र विदेश नीति के आधार पर आगे बढ़ रहा है। चाहे वह अमेरिका के साथ सम्बन्धों की बात हो या रूस के साथ सस्तें दरों पर कच्चे तेल की प्राप्ति। अमेरिका के तमाम दबावों के बावजूद भारत ने रूस से तेल खरीद के मामलें में पीछे नहीं हटा। आज भारत नई अर्न्तराष्ट्रीय वास्तविकताओं, उसकी जटिलताओं, खतरों और अवसरों को देखते हुए आगे बढ़ रहा है।

हमारी पड़ोस नीति के दृष्टिकोण में, भारत इस क्षेत्र में स्थिरता और शान्ति का एक कारक है और हमारा प्रयास दक्षिण एशिया के लिए एक व्यापक दृष्टिकोण का निर्माण करना रहा है। भारत अपने सभी पड़ोसियों के साथ शान्तिपूर्ण मैत्री और सहयोगात्मक सम्बन्ध चाहता है। भारत इस क्षेत्र का सबसे बड़ा देश है। हमारी उच्च आर्थिक बृद्धि इस क्षेत्र को प्रभावित करती रहती है और हमारे पड़ोसियों को भारत के साथ साझेदारी करके लाभ उठाने के अधिक अवसर प्रदान करती है। भारत श्रीलंका, नेपाल, भूटान जैसे अपने पड़ोसी देशों को कई तरह की आर्थिक एवं अन्य रियायतें देता है। इस तरह की व्यवस्था हमारे अन्य पड़ोसियों के साथ सम्भव है।

भारतीय अर्थव्यवस्था का निरन्तर तीव्र विकास चीन के उदय का सबसे अच्छा जबाब है। हाल के समय में हमारा प्रयास चीन के साथ बहुआयामी सम्बन्ध विकसित करने का रहा है, हलांकि हमारे बीच प्रतिस्पर्धा और सहयोग दोनों हमेशा बने रहेंगे। चीन के प्रभुत्व को देखते हुए दक्षिण और पूर्व एशिया के अन्य देशों जैसे जापान, दक्षिण कोरिया, वियतनाम और आस्ट्रेलिया के साथ हमारे सम्बन्ध और अधिक महत्वपूर्ण हो जाते हैं। भारत और नेपाल घनिष्ठ पड़ोसी होने के नाते मित्रत्रा और सहयोग का एक अनूठा रिश्ता साझा करते हैं, जिसकी विशेषता खुली सीमाएं और लोगों के बीच गहरे पारिवारिक और सांस्कृतिक सम्पर्क है। वर्तमान नेपाल की राजनीतिक व्यवस्था नाजुक और तनावग्रस्त बनी हुई है और इसने हमारे पारम्परिक रूप से मजबूत द्विपक्षीय सम्बन्धों को अस्थायी रूप से धीमा कर दिया है। भारत नेपाल की हर सम्भव सहायता करने के लिए पूरी तरह से तैयार है और नेपाल के लोगों की भलाई की कामना करता है। भारत की पाकिस्तान के प्रति विदेश नीति आतंकवाद से मुक्त वातावरण में सामान्य और मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने की है। भारत का कहना है कि शान्तिपूर्ण सम्बन्धों के लिए आतंकवाद और हिंसा का खात्मा जरूरी है।[9]

भारतीय विदेश नीति की उल्लेखनीय सफलता पहले अमेरिका और बाद में कई अन्य प्रमुख देशों के साथ हुआ एतिहासिक समझौता था, जिसके तहत हमें अर्न्तराष्ट्रीय परमाणु उर्जा एजेंसी से छूट के साथ परमाणु उर्जा तकनीकि, सामग्री और अनुसंधान तक प्राप्त हुए। सामान्य और पूर्ण निशस्त्रीकरण के प्रति भारत की प्रतिबद्धता हमेशा की तरह दृढ़ बनी हुई है। हमने परमाणु प्रसार संधि के भेदभावपूर्ण और मनमाने प्रावधानों का स्वीकार करने से इनकार कर दिया है। भारत एकमात्र ऐसा परमाणु सम्पन्न देश है जिसने परमाणु हथियारों को पहले प्रयोग न करने की प्रतिबद्धता जताई है।

भारत दशकों से आतंकवाद का शिकार रहा है। इसलिए इस मुद्दे ने कई दशकों से भारत के विदेश नीति निर्माताओं का ध्यान केन्द्रित किया है। भारत ने आतंकवाद के प्रति शून्य सहनशीलता की नीति अपनायी है तथा किसी रूप या अभिव्यक्ति में धार्मिक अतिवाद और कट्टरवाद की निदा करता है।[10] भारत चाहता है कि हमारे पड़ोसी देश सीमा पार आतंकवाद और भारत के प्रति शत्रुत्रापूर्ण गतिविधियों पर रोक लगायें तथा उन्हें किसी भी रूप भारत के खिलाफ प्रश्रय न दें।

निष्कर्ष – विदेश नीति एक गतिशील प्रकिया है तथा विश्व में अपने को एक महाशक्ति के रूप में स्थापित करने के लिए भारत अपनी विदेश नीति में समय और आवश्यकता के अनुसार बदलाव कर रहा है। अमेरिका के साथ टैरिफ तनाव के बीच भारत का झुकाव चीन की तरफ बढ़ा है। भारत अपने राष्ट्रीय हितों और राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था में अपनी उपयुक्त भूमिका के लिए सजग रूप से विदेश नीति में बहुध्रुवीयता को बढ़ावा दे रहा है। रूस एक लम्बे समय से परिष्कृत प्रतिरक्षा सामग्री और तकनीकि की आपूर्ति करता आ रहा है। भारत की विदेश नीति वर्तमान और आने वाले वर्षो में हमारी उर्जा सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए रूस की भूमिका को विशेष महत्व देती है। आज भारत की विदेश नीति इस मान्यता के आधार पर अधिक यथार्थवादी है कि राष्ट्रों के समूह में भारत का स्थान उसकी आर्थिक और सैन्य ताकत से निर्धारित होगा।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची :

1. वी0पी0 दत्त : 'बदलती दुनियां में भारत की विदेश नीति' हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय (2003) पृ0 24
2. तपन बिस्वाल : 'अन्तर्राष्ट्रीय संबंध' मैकमिलन पब्लिशर्स इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली (2008) पृ0 165
3. वही, पृ0 161
4. https://www.mea.gov.in
5. डॉ0 अरूणोदय बाजपेयी : 'भारत की आर्थिक कूटनीति : नई प्राथमिकताएं एवं उभरती प्रवृत्तियां ' वर्ल्ड फोकस, दिल्ली, अंक : 17 , (अगस्त 2013) पृ0 4–5
6. https://www.mea.gov.in
7. वी0पी0 दत्त : 'बदलती दुनियां में भारत की विदेश नीति' हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय (2003) पृ0 23–24
8. वही, पृ0 25
9. https://www.mea.gov.in
10. वी0पी0 दत्त : 'स्वत्रंत्र भारत की विदेश नीति' नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, नई दिल्ली (2013) पृ0 91

आलोचनात्मक–नीतिशास्त्र

डॉ. प्रदीप कुमार पाण्डेय*

1. आलोचनात्मक नीतिशास्त्र की परिभाषा

हम अपने दैनिक जीवन में प्रायः ऐसे कथनों का प्रयोग करते हैं जिन्हें 'नैतिका कथन' अथवा 'नैतिक निर्णय' कहा जाता है। उदाहरणार्थ हम कहते हैं कि "सत्य बोलना 'उचित' है", "चोरी करना 'अनुचित' है", "वह बहुत अच्छा' मनुष्य है", "उस व्यक्ति का चरित्र बहुत 'उत्कृष्ट' है", "निर्दोष प्राणी को कष्ट पहुंचा कर तुमने बहुत 'बुरा' कर्म किया है", "संसार में सुख ही एकमात्र 'शुभ' और दुःख ही एकमात्र 'अशुभ' है", "अपने माता-पिता की सेवा करना मेरा 'कर्तव्य' है", "उसे अपने गुरु का निरादर नहीं करना 'चाहिए' था" इत्यादि । उपर्युक्त कथनों तथा इसी प्रकार के अन्य सभी कथनों को हम 'नैतिक कथन'या 'नैतिक निर्णय' कहते हैं जिनका स्पष्टीकरण और विश्लेषण करना आलोचनात्मक नीतिशास्त्र का मुख्य उद्देश्य है।

नैतिक कथनों अथवा निर्णयों के संबंध में मुख्यतः तीन प्रकार के प्रश्न उठाए जा सकते हैं। सर्वप्रथम प्रश्न यह है कि इन नैतिक कथनों या निर्णयों का 'अर्थ' क्या है अर्थात् जब हम इनका प्रयोग करते हैं तो हम इनके द्वारा क्या कहना चाहते हैं? इसी प्रश्न को हम इस प्रकार भी प्रस्तुत कर सकते हैं कि जब हम विभिन्न प्रसंगों तथा परिस्थितियों में 'शुभ', 'अशुभ', 'उचित', 'अनुचित', 'कर्तव्य' आदि नैतिक शब्दों अथवा प्रत्ययों का प्रयोग करते है तो हम इनका क्या अर्थ समझते है और ये निनैतिक शब्दों से किस अर्थ में भिन्न होते हैं। स्पष्ट है कि इस प्रश्न का सम्बन्ध नैतिक शब्दों की परिभाषा तथा भूमिका से है। नैतिक कथनों अथवा निर्णयों के सम्बन्ध में दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि इनका 'स्वरूप' क्या है- अर्थात् क्या ये कथन या निर्णय तथ्यात्मक कथनों की भांति वर्णनात्मक अथवा संज्ञानात्मक होते हैं, अथवा क्या ये संवेगात्मक कथनों के समान मुख्यतः अवर्ण-नात्मक या असंज्ञानात्मक हैं? यदि नैतिक कथन तथ्यात्मक तथा संवेगात्मक कथनों से भिन्न हैं तो वह कौन-सा तत्व है जो इन नैतिक कथनों को अन्य दोनों प्रकार के कथनों से पृथक करता है? नैतिक कथनों या निर्णयों से संबंधित तीसरा प्रमुख प्रश्न यह है कि क्या तर्को द्वारा इन निर्णयों को उचित सिद्ध किया जा सकता है। यदि नैतिक निर्णयों का प्रमाणीकरण संभव है तो हम इनकी पुष्टि के लिए किस प्रकार के तर्क प्रस्तुत कर सकते हैं? क्या इन निर्णयों को उचित सिद्ध करने के लिए उसी प्रकार के तर्क दिए जा सकते हैं जिस प्रकार के तर्को द्वारा तथ्यात्मक निर्णयों को सत्य अथवा मिथ्या प्रमाणित किया जाता है ?

उपर्युक्त सभी प्रश्नों का सम्बन्ध नैतिक दर्शन की उस नवीनतम विधा से है जिसे 'आलोचनात्मक नीतिशास्त्र' 'आलोचनात्मक नीतिशास्त्र' अथवा 'विश्लेषणात्मक नीतिशास्त्र' की संज्ञा दी जाती है और जिसका उदय तथा विकास वर्तमान शताब्दी में ही हुआ है। इन प्रश्नों पर ध्यानपूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि आलोचनात्मक नीतिशास्त्र का मुख्य उद्देश्य नैतिक शब्दों अथवा प्रत्ययों के अर्थ का विश्लेषण करके नैतिक निर्णयों के स्वरूप को स्पष्ट करता तथा उनके प्रमाणीकरण की विधियों का विवेचन करना है। हम अपने दैनिक जीवन में जिन नैतिक कथनों का प्रयोग करते हैं आलोचनात्मक नीतिशास्त्र उनका स्पष्टीकरण तथा तार्किक विश्लेषण करता है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि अधि-नीति-शास्त्र नैतिक दर्शन की वह विधा है जो नैतिक भाषा के सभी पक्षों का व्यवस्थितः रूप से अध्ययन, स्पष्टीकरण तथा विश्लेषण करती है।

यहां यह उल्लेखनीय है कि नैतिक भाषा का विश्लेषण करते समय अधि-नीतिशास्त्री यथासम्भव तटस्थ रहता है- अर्थात् वह किसी विशेष मानकीय नैतिक सिद्धान्त का समर्थन या खंडन नहीं करता। वह तटस्थ

* वरिष्ठ सहायक प्राध्यापक, दर्शन विभाग, रामविलास गंगाराम महाविद्यालय, महाराजगंज, सीवान।

प्रेक्षक तथा आलोचक के रूप में नैतिक भाषा की मूल विशेषताओं को स्पष्ट करने का प्रयास करता है। इस दृष्टि से अधि-नीतिशास्त्री की तुलना ऐसे वैज्ञानिक के साथ की जा सकती है जिसका उद्देश्य किसी समस्या के कारणों का तटस्थता-पूर्वक और निष्पक्ष रूप से स्पष्टीकरण तथा विश्लेषण करना ही होता है। अधि-नैतिक सिद्धांतों की इसी तटस्थता का उल्लेख करते हुए संवेगवाद के प्रमुखः प्रणेता ए० जे० एयर कहते हैं कि "दार्शनिक सिद्धांतों के रूप में सभी नैतिक सिद्धांत-अंतः प्रज्ञावाद, प्रकृतिवाद, वस्तुनिष्ठवाद, संवेगवाद तथा अन्य सिद्धांत- वास्तविक आचरण के सम्बन्ध में तटस्थ हैं।" इसी प्रकार संवेगवाद के एक अन्य मुख्य समर्थक सी०एल० स्टीवैन्सन ने भी मानवीय आचरण की दृष्टिः से आलोचनात्मक नीतिशास्त्र को पूर्णतः तटस्थ माना है। आलोचनात्मक नीतिशास्त्र के विषय में उनका कथन है कि "इससे किसी व्यक्ति को यह जानने की आशा नहीं करनी चाहिए कि कौन-सा आचरण उचित है और कौन-सा अनुचित । विश्लेषणात्मक अध्ययन का उद्देश्य सदैव अप्रत्यक्ष होता है- फिर चाहे वह विज्ञान का हो अथवा

1. नीतिशास्त्र का। यह दूसरों को इस योग्य बनाने की आशा करता है कि वे समय और शक्ति नष्ट किए बिना अधिक स्पष्टता से जांच करने का कार्य कर सकें।" इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि आलोचनात्मक नीतिशास्त्र आचरण को दृष्टि से अधि नीतिशास्त्र को तटस्थ मानते हैं। इस प्रकार संक्षेप में यह कहा जा सकता है. कि आलोचनात्मक नीतिशास्त्र नैतिक भाषा के सभी पक्षों के स्पष्टीकरण एवं तटस्य तार्किक विश्लेषण का शास्त्र है जो उन सभी प्रश्नों का व्यवस्थित रूप से उत्तर देने का प्रयास करता है जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है, इसी कारण इसे 'विश्ले-षणात्मक नीतिशास्त्र' की संज्ञा भी दी जाती है।

2. आलोचनात्मक नीतिशास्त्र और मानकीय नीतिशास्त्र

आलोचनात्मक नीतिशास्त्र के स्वरूप को भली-भांति समझने के लिए मानकीय नीति-शास्त्र के साथ उसकी तुलना करना वांछनीय होगा। हम देख चुके हैं कि व्यावहारिक जीवन में मनुष्य का मार्गदर्शन करना आलोचनात्मक नीतिशास्त्र का उद्देश्य नहीं है, अतः यह मानवीय आचरण के लिए किसी मानकीय सिद्धांत का प्रति-पादन नहीं करता। वास्तव में यह कार्य मानकीय नीतिशास्त्र का ही है। मानकीय नीतिशास्त्र हमें यह बताता है कि मनुष्य के लिए स्वतः साध्य शुभ क्या है, उसके कौन-से कर्म उचित हैं और कौन-से अनुचित, अपने प्रति और दूसरों के प्रति उसका कर्तव्य क्या है, शुभ, अशुभ, तथा उचित, अनुचित अथवा कर्तव्य का निर्धारण किन नैतिक सिद्धांतों के आधार पर किया जा सकता है, इत्यादि । मानव-जीवन के लिए परम शुभ तथा कर्तव्य के सम्बन्ध में सामान्य एवं सार्व-भौमिक नैतिक सिद्धांतों का प्रतिपादन करना और समुचित तर्कों द्वारा इन सिद्धांतों को युक्तिसंगत सिद्ध करना मानकीय नीतिशास्त्र का उद्देश्य है। इन सार्वभौमिक नैतिक सिद्धांतों द्वारा मानकीय नीतिशास्त्र व्यावहारिक जीवन में मनुष्य का मार्गदर्शन करता है। उदाहरणार्थ सुखवाद एक मानकीय नैतिक सिद्धांत है जो हमें बताता है कि सुख ही मनुष्य के लिए परम शुभ है, अतः सुख के आधार पर ही उसके कर्मों के औचित्य तथा कर्तव्य का निर्णय किया जा सकता है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि मानकीय नीतिशास्त्र की समस्याएं आलोचनात्मक नीतिशास्त्र की समस्याओं से भिन्न है।

मानकीय नीतिशास्त्र तथा आलोचनात्मक नीतिशास्त्र के अन्तर को हम इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं। मानकीय नीतिशास्त्र हमें यह बताता है कि हमारे लिए शुभ क्या है और हमें क्या करना चाहिए, जबकि आलोचनात्मक नीतिशास्त्र "अमुक वस्तु हमारे लिए शुभ है" तथा "अमुक कर्म करना हमारा कर्तव्य है निर्णयों के अर्थ एवं स्वरूप का स्पष्टीकरण तथा विश्लेषण करता है। मानकीय नीतिशास्त्र मनुष्य का मार्गदर्शन करने के लिए प्रतिपादित नैतिक सिद्धांतों के समर्थन में तर्क प्रस्तुत करता है, जबकि आलोचनात्मक नीतिशास्त्र इन तर्कों के स्वरूप तथा इनकी विधियों पर विचार करता है और इन तर्कों की प्रामाणिकता भी निध्यक्ष रूप से परीक्षा करता है। इस प्रकार उपर्युक्त अन्तर से नैतिक दर्शन की इन दोनों विधाओं का भिन्न स्वरूप तथा क्षेत्र भली

भांति स्पष्ट हो जाता है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आलोचनात्मक नीतिशास्त्र वास्तव में मानवीय नीति-शास्त्र का पूरक है। हम देख चुके हैं कि आलोचनात्मक नीतिशास्त्र उन नैतिक निर्णयों के अर्थ और स्वरूप का स्पष्टीकरण तथा विश्लेषण करता है जो हम मानकीय नीतिशास्त्र के सिद्धांतों के अनुसार अपने व्यावहारिक जीवन में करते हैं। इसी प्रकार आलोचनात्मक नीतिशास्त्र उन तर्कों के स्वरूप को स्पष्ट करता है जो मानकीय नीतिशास्त्र अपने नैतिक सिद्धांतों की पुष्टि के लिए प्रस्तुत करता है। इन सभी तथ्यों को ध्यान में रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि आलोचनात्मक नीतिशास्त्र वास्तव में मानकीय नीतिशास्त्र का सहायक अथवा पूरक है। मानकीय नीतिशास्त्र के निर्णयों तथा तर्कों के अर्थ और स्वरूप को समझने के लिए आलोचनात्मक नीतिशास्त्र का ज्ञान बहुत आवश्यक है। इस दृष्टि से मानकीय नीतिशास्त्र के पूरक के रूप में आलोचनात्मक नीतिशास्त्र का विशेष महत्त्व है।

परन्तु यहां यह उल्लेखनीय है कि केवल आलोचनात्मक नीतिशास्त्र को ही सम्पूर्ण नैतिक दर्शन मान लेना अनुचित एवं एकांगी दृष्टिकोण है जिसका कुछ सम-कालीन दार्शनिकों ने समर्थन किया है। उदाहरणार्थ ए० जे० एयर आलोचनात्मक नीतिशास्त्र को ही नैतिक दर्शन मानते हैं, मानकीय नीतिशास्त्र को नहीं। पी० एच० नाचलस्मिथ की पुस्तक 'ऐथिक्सा' के विषय में अपना मत व्यक्त करते हुए वे कहते हैं कि "नीतिज्ञ तथा नैतिक दार्शनिक के कार्य में अन्तर है जिसकी ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है। नीतिज्ञ नैतिक नियमों का प्रतिपादन करता है अथवा उनका पालन करने के लिए लोगों को प्रोत्साहित करता है, परन्तु नैतिक दार्शनिक का मुख्य कार्य नैतिक निर्णय देना नहीं, अपितु उनके स्वरूप का विश्लेषण करना है।" अपने इसी मत को और अधिक स्पष्ट करते हुए एयर ने अपनी पुस्तक 'फिलॉसॉफिकल एसेज' में लिखा है कि "नैतिक दर्शन के लिए प्रश्न यह नहीं है कि कोई विशेष कर्म उचित है या अनुचित, अपितु प्रश्न यह है कि किसी कर्म को उचित अथवा अनुचित कहने का अर्थ क्या है'।" इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि एयर के अनुसार आलोचनात्मक नीतिशास्त्र ही वास्तव में सम्पूर्ण नैतिक दर्शन है। कुछ अन्य दार्शनिकों ने भी उनके इस मत का समर्थन किया है। उदाहरणार्थ नीतिशास्त्र की परिभाषा करते हुए अपनी पुस्तक 'दि लेंग्वेज ऑफ मॉरल्स' की प्रस्तावना में आर० एम० हेयर कहते हैं कि "नीतिशास्त्र नैतिक भाषा का ताकिक अध्ययन है।"

परन्तु मेरे विचार में आलोचनात्मक नीतिशास्त्र के सम्बन्ध में इन दार्शनिकों का उपर्युक्त दृष्टिकोण एकांगी होने के कारण अनुचित एवं अमान्य है। हम देख चुके हैं कि आलोचनात्मक नीतिशास्त्र का कार्य मानकीय नीतिशास्त्र के निर्णयों के स्वरूप का विश्लेवण करना है जिससे उन्हें भली-भांति समझा जा सके। इसका अर्थ यह है कि आलोचनात्मक नीतिशास्त्र वास्तव में मानकीय नीतिशास्त्र को समझने का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। मानकीय नीतिशास्त्र के निर्णयों तथा सिद्धांतों के अभाव में आलोचनात्मक नीतिशास्त्र की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती, अतः इस दृष्टि से वह अपने अस्तित्व और अपनी सार्थकता के लिए अंततः मानकीय नीतिशास्त्र पर ही निर्भर है। ऐसी स्थिति में आलोचनात्मक नीतिशास्त्र को ही अपने आप में साध्य तथा सम्पूर्ण नैतिक दर्शन मान लेना हमारी बहुत बड़ी भूल होगी। जो दार्शनिक ऐसा मानते हैं वे स्पष्टतः तथ्यों की उपेक्षा करते हैं। वस्तुतः आलोचनात्मक नीतिशास्त्र स्वतः साध्य तथा सम्पूर्ण नैतिक दर्शन न होकर नैतिक दर्शन की एक बहुत महत्त्वपूर्ण विधा है जिसकी सहायता से हम नैतिक भाषा के अर्थ और स्वरूप को भली-भांति समझ सकते हैं। मानकीय नीतिशास्त्र की समस्याओं के समुचित एवं संतोषप्रद समाधान में आलोचनात्मक नीतिशास्त्र निश्चय ही हमारी बहुत सहायता कर सकता है, अतः इस दृष्टि से मानकीय नीतिशास्त्र के पूरक अथवा सहायक के रूप में-आलोचनात्मक नीतिशास्त्र का हमारे लिए अत्यधिक महत्त्व है।

3. आलोचनात्मक नीतिशास्त्र की मूल समस्याएं

आलोचनात्मक नीतिशास्त्र की परिभाषा तथा मानकीय नीतिशास्त्र के साथ उसके सम्बंध पर विचार करने के पश्चात अब आलोचनात्मक नीतिशास्त्र की कुछ मूल समस्याओं का भी उल्लेख कर देना आवश्यक है। प्रथम

खंड के आरम्भ में नैतिक निर्णयों से सम्बंधित जिन तीन प्रश्नों की चर्चा की गयी है उन्हें ही आलोचनात्मक नीतिशास्त्र की मूल समस्याएं माना जाता है। नैतिक शब्दों अथवा निर्णयों का अर्थ, इन निर्णयों का स्वरूप तथा प्रमाणीकरण ये तीन समस्याएं आलोचनात्मक नीतिशास्त्र की मूल समस्याएं हैं। अब क्रमशः आलोचनात्मक नीतिशास्त्र की इन तीनों मूल समस्याओं पर विचार किया जायेगा।

(1) हम देख चुके हैं कि आलोचनात्मक नीतिशास्त्र का उद्देश्य नैतिक भाषा का स्पष्टीकरण तथा विश्लेषण करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये सर्वप्रथम नैतिक शब्दों या प्रत्ययों के अर्थ अथवा उनकी परिभाषा पर विचार किया जाता है। हम अपने दैनिक जीवन में 'शुभ', 'उचित', 'वर्तव्य' आदि जिन नैतिक शब्दों का प्रयोग करते हैं ने हमें सामान्यतः बहुत ही सरल प्रतीत होते हैं। साधारण व्यक्ति प्रायः यह दावा करता है कि वह इन शब्दों का अर्थ भली-भांति जानता है। परन्तु दार्शनिक दृष्टि से इन नैतिक शब्दों का विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि इनका कोई स्पष्ट' निश्चित और सर्वमान्य अर्थ बताना लगभग असम्भव है। अनेक महान दार्शनिक दीर्घकाल से 'शुभ', 'उक्ति', 'कर्तव्य' आदि नैतिक शब्दों के अर्थ पर गम्भीरतापूर्वक विचार करते रहे हैं, किन्तु फिर भी वे अभी तक इन में से किसी शब्द की कोई निश्चित एवं सर्वमान्य परिभाषा नहीं दे सके। इसका कारण यह है कि विभिन्न प्रसंगों तथा परिस्थितियों में इन शब्दों का अर्थ भिन्न-भिन्न हो सकता है। ऐसी स्थिति में दार्शनिक दृष्टि से यह कहना अत्यंत कठिन है कि इनका ठीक-ठीक और निश्चित अर्थ क्या है। अनेक दार्शनिकों ने अपने-अपने सिद्धांतों के अनुरुप इन नैतिक शब्दों तथा इन से सम्बद्ध अन्य नैतिक शब्दों की परिभाषा दी है और हमारे व्यावहारिक जीवन में इनके महत्व को स्पष्ट किया है। इन दार्शनिकों ने यह भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि विभिन्न प्रसंगों तथा परिस्थितियों में इन शब्दों के नैतिक और निर्देतिक उपयोग में क्या अंतर होता है। उदाहरणार्थ हम 'अच्छा' शब्द का प्रयोग मनुष्य तथा उसके चरित्र के लिये भी करते हैं और भौतिक वस्तुओं के लिए भी। हम कहते हैं कि "बह 'अच्छा' मनुष्य है" अथवा "उस व्यक्ति का चरित्र बहुत अच्छा है"। परन्तु हम यह भी कहते हैं कि "यह 'अच्छा' पर है" अथवा "यह अच्छा सेव है"। प्रथम दो कथनों में 'अच्छा' शब्द का प्रयोग नैतिक अर्थ में तथा अंतिम दो कथनों में इस शब्द का प्रयोग निर्देतिक अर्थ में किया गया है। इसी प्रकार अन्य अनेक नैतिक शब्दों का प्रयोग भी नैतिक तथा निनैतिक दोनों अर्थों में किया जाता है। आलोचनात्मक नीतिशास्त्र ही हमें यह बताता है कि इन शब्दों के उक्त दोनों अयों में क्या आधारभूत अंतर है और इस अंतर का कारण क्या है। इस प्रकार नैतिक शब्दों के अर्थ अथवा उनकी परिभाषा से सम्बंधित समस्या आलोचनात्मक नीतिशास्त्र की बहुत महत्वपूर्ण समस्या है।

(2) आलोचनात्मक नीतिशास्त्र की दूसरी समस्या का सम्बंध नैतिक कथनों अथवा निर्णयों के स्वरुण से है। क्या नैतिक निर्णय वैज्ञानिक कथनों की भांति तथ्यात्मक अथवा वर्णनात्मक होते हैं? अथवा क्या ये निर्णय हमारी भावनाओं को व्यक्त करने तथा अन्य व्यक्तियों में इन भावनाओं को जागृत करने वाले संवेगात्मक कथन मात्र है ? अथवा क्या ये नैतिक निर्णय आदेशात्मक या परामर्शात्मक वाक्य है? अथवा क्या ये निर्णय केवल हमारी व्यक्तिगत इच्छाओं को अभिव्यक्त करने वाले व्यक्तिनिष्ठ कथन है? इन सभी प्रश्नों तथा ऐसे ही अन्य अनेक प्रश्नों पर आलोचनात्मक नीतिशास्त्र की उपर्युक्त दूसरी समस्या के अंतर्गत विचार किया जाता है। यह स्पष्ट है कि इन प्रश्नों का सम्बंध नैतिक निर्णयों के स्वरूप तथा उद्देश्य से है। इन निर्णयों के स्वरुप का विश्लेषण करते हुए आलोचनात्मक नीतिशास्त्र हमें यह बताता है कि हमारे व्यावहारिक जीवन में इनका वास्तविक उपयोग अथवा कार्य क्या है और हम इन का प्रयोग किस उद्देश्य की पूर्ति के लिये करते हैं। कुछ दार्शनिक इन निर्णयों को तथ्यात्मक अथवा संज्ञानात्मक कथन मानते हैं और कुछ अन्य दार्शनिक इन्हें संवेगात्मक आदेशात्मक अथवा परामशत्मिक कथन। इस प्रकार नैतिक

निर्णयों के अर्थ के साथ-साथ उनके स्वरूप पर भी आलोचनात्मक नीतिशास्त्र के अंतर्गत विस्तारपूर्वक विचार किया गया है।

(3) आलोचनात्मक नीतिशास्त्र की तीसरी महत्वपूर्ण समस्या नैतिक निर्णयों के प्रमाणीकरण से सम्बंधित है। इस समस्या के अंतर्गत जिन प्रश्नों पर विचार किया जाता है उनमें से कुछ मुख्य प्रश्न इस प्रकार हैं- क्या हम अपने नैतिक निर्णयों को उचित सिद्ध करने के लिये कुछ बुक्तियां अथवा तर्क दे सकते हैं? दूसरे शब्दों में क्या हमारे नैतिक निर्णय बुद्धिसंगत अयवा तर्कसंगत होते हैं? यदि हम इन निर्णयों को उचित सिद्ध करने के लिये तर्क दे सकते हैं तो इन तकों का स्वरूप क्या है? क्या वे उसी प्रकार के तर्क हैं जिस प्रकार के तर्क हम अपने तथ्यात्मक निर्णयों की पुष्टि के लिये देते हैं? यदि ये तर्क भिन्न प्रकार के हैं तो वे कौन-से तत्व है जो इन तकों को तथ्यात्मक निर्णयों के समर्थन में दिये जाने वाले तों से पृथक करते हैं? क्या निगमनात्मक तथा आगमनात्मक तकों द्वारा नैतिक निर्णयों का प्रमाणीकरण सम्भव है? यदि नहीं तो इन निर्णयों को उचित सिद्ध करने के लिये किस प्रकार के विशेष तर्क दिये जा सकते हैं ? आलोचनात्मक नीतिशास्त्र इन सभी प्रश्नों तथा ऐसे ही अन्य अनेक प्रश्नों का संतोषप्रद उत्तर देने का प्रयास करता है। नैतिक निर्णयों के प्रमाणीकरण की इस समस्या को दार्शनिक विशेष महत्व देते हैं, क्योंकि प्रमाणीकरण के अभाव में इन निर्णयों को तर्कसंगत या बौद्धिक नहीं माना जा सकता। जैसा कि हम आगे देखेंगे, अन्य दो समस्याओं की भांति आलोचनात्मक नीतिशास्त्र की इस समस्या का समाधान भी विभिन्न दार्शनिकों ने अपने-अपने सिद्धांतों के अनुरूप भिन्न-भिन्न प्रकार से करने का प्रयास किया है।

यहां यह उल्लेखनीय है कि केवल अध्ययन की दृष्टि से ही बधि-मीतिशास्त्र की उपर्युक्त तीनों समस्याओं का पृथक-पृथक विवेचन किया गया है; वास्तव में ये तोमों समस्याएं अलग-अलग न होकर परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। इसका कारण यह है कि नैतिक निर्णयों का अर्थ, स्वरूप तथा प्रमाणीकरण ये तीनों पक्ष एक-दूसरे से पृथक न होकर अन्योन्याश्रित हैं। इनमें से किसी एक समस्या के समाधान के विषय में किसी दार्शनिक के विधार जाम लेने के पश्चात हम यह भली-भांति समझ सकते हैं कि वह अन्य दो समस्याओं का समाधान किस प्रकार करेगा। उदाहरणार्थ यदि कोई दार्शनिक यह कहता है कि 'शुभ' का अर्थ 'सुखद' है तो 'शुम' सम्बंधी नैतिक निर्णय के स्वरूप के विषय में हम उसके मत को भली-भांति आम सकते हैं- बह यही कहेगा कि 'शुभ' सम्बंधी नैतिक निर्णय 'सुखद' सम्बंधी मनोवैज्ञानिक निर्णय से भिम्न नहीं है। ऐसा दार्शनिक नैतिक निर्णयों को वस्तुतः तथ्यात्मक निर्णय ही मानेगा और इन निर्णयों की पुष्टि के लिये उसी प्रकार के तर्क देगा जिस प्रकार के तर्क तथ्यात्मक निर्णयों के समर्थन में दिये जाते हैं। इसी प्रकार यदि कोई दार्शनिक नैतिक निर्णयों के स्वरूप की व्याख्या करते हुए यह कहता है कि ये निर्णय पूर्णतः संवेगात्मक होते हैं तो हम यह जान सकते हैं कि वह इन निर्णयों में प्रयुक्त नैतिक शब्दों का क्या अर्थ स्वीकार करेगा-यह यही कहेगा कि इन नैतिक शब्दों का अर्थ संवेगात्मक शब्दों के अर्थ से भिन्न नहीं है। नैतिक शब्दों के अर्थ के विषय में उसका यही मत होगा कि संवेगात्मक शब्दों की भांति ये शब्द भी केवल हमारी भावनाओं को अभिव्यक्त और जागृत करते हैं। ऐसा दार्शनिक नैतिक निर्णयों को उचित सिद्ध करने के लिए तथ्यात्मक निर्णयों के समर्थन में दिये जाने वाले तों से पूर्णतः भिन्न प्रकार के तर्क देगा। यदि कोई दार्शनिक यह कहता है कि "उचित कर्म वह है जो अधिकतम शुभ को उत्पन्न करता है" और "शुभ का अर्थ सुख है" तो हम यह भली-भांति जान सकते हैं कि वह "अमुक कर्म उचित है" इस नैतिक निर्णय के प्रमाणीकरण के लिये किस प्रकार का तर्क प्रस्तुत करेगा। वह यही सिद्ध करने का प्रयास करेगा कि वह विशेष कर्म उन सभी कर्मों की अपेक्षा अधिक सुख उत्पन्न कर सकता है जो उस परिस्थिति में कर्ता के लिये सम्भव है। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि आलोचनात्मक नीतिशास्त्र की उपर्युक्त तीनों समस्याएं एक-दूसरे से पूर्णतः सम्बद्ध है, अतः इन सभी समस्याओं के समाधान के लिये किसी एक विशेष अधि-मैतिक सिद्धांत का आधार लेना अनिवार्य हो जाता है।

संदर्भ:

1. ए० जे० एयर, 'फिलॉसॉफिकल एसेज', १० पृ 246 ।
2. सी० एल० स्टीवेन्सन, 'ऐथिक्स एण्ड लैंग्वेज', पृ 1।
3. ए० जे० एयर, पी० एच० नावलस्मिथ की पुस्तक 'ऐथिक्स', पृ 1
4. 4. ए० जे० एयर, 'फिलॉसॉफिक एसेज पृ 235

महाकवि भास के कृतित्व में सामाजिक और सांस्कृतिक चिंतन

डॉ. अशोक कुमार वर्मा*

सारांश

महाकवि भास संस्कृत नाट्य परंपरा के प्राचीनतम एवं प्रभावशाली नाटककार माने जाते हैं। उनके कृतित्व में तत्कालीन समाज, संस्कृति, राजनीतिक व्यवस्था, पारिवारिक मूल्य और मानवीय संवेदनाओं का सजीव चित्रण मिलता है। स्वप्नवासवदत्तम्, प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्, चारुदत्तम्, अविमारक आदि नाटकों के माध्यम से भास ने न केवल राजदरबार और राजनीति को प्रस्तुत किया, बल्कि सामान्य जनजीवन, नारी-स्थिति, धर्म, नैतिकता और सामाजिक उत्तरदायित्व को भी प्रमुखता दी। भास के नाटकों में वर्णाश्रम व्यवस्था, गुरु-शिष्य परंपरा, दाम्पत्य निष्ठा, मित्रता, त्याग और करुणा जैसे सांस्कृतिक मूल्यों की स्पष्ट अभिव्यक्ति दिखाई देती है। उनके पात्र आदर्शवादी होते हुए भी यथार्थ से जुड़े हैं, जिससे सामाजिक जीवन की जटिलताओं का यथार्थपरक चित्र उभरता है। नारी पात्रों के माध्यम से भास ने स्त्री-सम्मान, साहस और त्याग को विशेष रूप से उकेरा है।

इस प्रकार महाकवि भास का कृतित्व भारतीय समाज और संस्कृति का दर्पण है, जिसमें प्राचीन भारतीय जीवन-मूल्य, नैतिक आदर्श और सांस्कृतिक चेतना का समन्वित एवं प्रभावशाली प्रस्तुतीकरण मिलता है।

प्रस्तावना

संस्कृत नाट्य परंपरा के विकास में महाकवि भास का स्थान अत्यंत विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण है। वे कालिदास से भी पूर्ववर्ती माने जाते हैं और उन्हें संस्कृत नाटक की प्राचीनतम सुदृढ़ परंपरा का प्रतिनिधि कहा जाता है। भास का कृतित्व न केवल साहित्यिक दृष्टि से समृद्ध है, बल्कि उसमें तत्कालीन भारतीय समाज और संस्कृति का यथार्थपरक एवं संवेदनशील चित्रण भी प्राप्त होता है। उनके नाटक केवल राजाओं, युद्धों और राजनैतिक षड्यंत्रों तक सीमित नहीं हैं, अपितु वे मानव जीवन की गहन अनुभूतियों, सामाजिक मूल्यों और सांस्कृतिक आदर्शों को सशक्त रूप में अभिव्यक्त करते हैं। भास के नाटकों में समाज के विविध पक्ष–राजनीति, धर्म, परिवार, नारी, मित्रता, कर्तव्य और नैतिकता–का संतुलित समन्वय दिखाई देता है। स्वप्नवासवदत्तम् और प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् जैसे नाटकों में जहाँ राजनैतिक चातुर्य और राज्य-व्यवस्था का चित्रण है, वहीं चारुदत्तम् जैसे नाटक में सामान्य नागरिक का जीवन, उसकी करुणा, उदारता और सामाजिक संघर्ष अत्यंत प्रभावशाली ढंग से उभरकर सामने आता है। इससे स्पष्ट होता है कि भास का दृष्टिकोण केवल अभिजात वर्ग तक सीमित नहीं था, बल्कि वे समाज के प्रत्येक वर्ग के जीवन को साहित्य का विषय बनाते हैं।

भास के सामाजिक चिंतन की आधारशिला धर्म और नैतिकता पर टिकी हुई है। उनके पात्र धर्म, सत्य और कर्तव्य के प्रति सजग दिखाई देते हैं। राजा हो या सामान्य नागरिक, सभी अपने-अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह करते हैं। इस संदर्भ में नाट्य में व्यक्त यह भाव दृष्टव्य है– **"धर्मो हि परमं श्रेयः सर्वलोकहितावहः।"** यह पंक्ति भास के नाटकों में व्याप्त उस सांस्कृतिक चेतना को प्रतिबिंबित करती है, जिसमें धर्म को केवल धार्मिक कर्मकांड न मानकर सामाजिक कल्याण का आधार माना गया है। सांस्कृतिक दृष्टि से भास भारतीय परंपरा के सशक्त संवाहक हैं। उनके नाटकों में वर्णाश्रम व्यवस्था, गुरु-शिष्य परंपरा, विवाह संस्था, दाम्पत्य निष्ठा और स्त्री-सम्मान जैसे मूल्यों की स्पष्ट झलक मिलती है। नारी पात्र–जैसे वासवदत्ता–

* असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, जवाहर लाल नेहरू स्मारक पी. जी. कॉलेज, महराजगंज, उ.प्र.

त्याग, धैर्य और आत्मसम्मान की प्रतीक बनकर सामने आती हैं। इस संदर्भ में यह श्लोक भास की नारी-दृष्टि को स्पष्ट करता है– **"नारी तु धैर्यशौर्याभ्यां गृहलक्ष्मीः प्रकीर्तिता।"** भास के नाटकों की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि वे आदर्श और यथार्थ के बीच संतुलन स्थापित करते हैं। उनके पात्र आदर्शों का पालन करते हुए भी मानवीय दुर्बलताओं से मुक्त नहीं हैं। यही कारण है कि उनका साहित्य केवल मनोरंजन तक सीमित न रहकर सामाजिक शिक्षा का माध्यम बन जाता है। करुणा, सहानुभूति और मानवीय संवेदना उनके नाटकों का प्राणतत्त्व है–**"करुणा हि मानवस्य भूषणम्।"** अतः यह कहा जा सकता है कि महाकवि भास का कृतित्व सामाजिक और सांस्कृतिक चिंतन की दृष्टि से अत्यंत समृद्ध है। उनकी रचनाएँ प्राचीन भारतीय समाज की संरचना, मूल्य-बोध और जीवन-दृष्टि को समझने का महत्वपूर्ण स्रोत हैं। प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य भास के नाटकों में निहित इन्हीं सामाजिक एवं सांस्कृतिक तत्वों का विश्लेषण करना है, जिससे संस्कृत साहित्य में उनकी अद्वितीय भूमिका को सम्यक् रूप से रेखांकित किया जा सके।

भास के नाटकों में सामाजिक संरचना एवं वर्णाश्रम व्यवस्था

महाकवि भास के नाटकों में तत्कालीन भारतीय समाज की संरचना का यथार्थपरक और संतुलित चित्रण प्राप्त होता है। उनका कृतित्व सामाजिक जीवन के विविध स्तरों–राजा से लेकर सामान्य नागरिक तक–को मंच पर प्रस्तुत करता है। भास के नाटक यह स्पष्ट करते हैं कि समाज एक सुव्यवस्थित ढाँचे के अंतर्गत संचालित होता है, जिसमें प्रत्येक वर्ग और व्यक्ति की निश्चित भूमिका तथा जिम्मेदारी निर्धारित है। इस सामाजिक व्यवस्था का मूल आधार वर्णाश्रम व्यवस्था है, जो सामाजिक संतुलन और नैतिक अनुशासन का माध्यम मानी जाती थी। भास के नाटकों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र–चारों वर्ण अपने-अपने कर्तव्यों के अनुरूप आचरण करते हुए दिखाई देते हैं। राजा और राजकुमार क्षत्रिय धर्म का पालन करते हुए प्रजा-रक्षा, न्याय और शासन को अपना प्रमुख दायित्व मानते हैं। प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् तथा स्वप्नवासवदत्तम् में राजा का चरित्र केवल सत्ता का प्रतीक नहीं, बल्कि धर्म और मर्यादा का रक्षक बनकर उभरता है। इस संदर्भ में यह श्लोक भास की सामाजिक दृष्टि को स्पष्ट करता है– **"क्षत्रियस्य हि धर्मोऽयं प्रजानां परिरक्षणम्।"**

ब्राह्मण पात्रों के माध्यम से भास समाज में ज्ञान, नीति और धर्म के महत्व को रेखांकित करते हैं। ब्राह्मण न केवल यज्ञ और कर्मकांड के प्रतीक हैं, बल्कि वे राजाओं के मार्गदर्शक और नैतिक सलाहकार भी हैं। वे समाज में संतुलन बनाए रखने वाली शक्ति के रूप में उपस्थित होते हैं– **"विद्यया तपसा चैव ब्राह्मणो नित्यमुच्यते।"**

वैश्य वर्ग का प्रतिनिधित्व व्यापार, दान और आर्थिक गतिविधियों के माध्यम से होता है। चारुदत्तम् का नायक चारुदत्त एक वैश्य होते हुए भी उदारता, करुणा और नैतिक दृढ़ता का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करता है। वह यह सिद्ध करता है कि सामाजिक श्रेष्ठता केवल जन्म से नहीं, बल्कि आचरण से निर्धारित होती है– **"न जात्या श्रेयसि श्रेष्ठः सदाचारः प्रशस्यते।"**

आश्रम व्यवस्था भी भास के नाटकों में सामाजिक अनुशासन का महत्वपूर्ण अंग है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास–इन चारों आश्रमों का उल्लेख प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में मिलता है। गृहस्थ आश्रम को सामाजिक जीवन का केंद्र माना गया है, क्योंकि यहीं से समाज का पालन-पोषण होता है– **"गृहस्थाश्रम एवायं सर्वाश्रमसमाश्रयः।"**

भास के नाटकों में यह स्पष्ट है कि व्यक्ति का जीवन केवल व्यक्तिगत नहीं, बल्कि सामाजिक उत्तरदायित्वों से जुड़ा हुआ है। प्रत्येक पात्र अपने स्वधर्म के पालन को ही सर्वोच्च मानता है। इसी भावना को व्यक्त करता हुआ यह श्लोक उल्लेखनीय है–

"स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।" इस प्रकार भास के नाटकों में सामाजिक संरचना और वर्णाश्रम व्यवस्था कोई जड़ परंपरा नहीं, बल्कि समाज को सुव्यवस्थित, नैतिक और संतुलित बनाए रखने का माध्यम है। भास ने वर्ण और आश्रम को मानव कल्याण से जोड़कर प्रस्तुत किया है, जिससे उनका कृतित्व भारतीय सामाजिक चिंतन का एक महत्वपूर्ण साहित्यिक स्रोत बन जाता है।

भास के कृतित्व में नारी की सामाजिक एवं सांस्कृतिक भूमिका

महाकवि भास संस्कृत नाट्यपरंपरा के उन प्रारंभिक और मौलिक नाटककारों में हैं, जिनके कृतित्व में नारी केवल कथा की सहायक पात्र नहीं, बल्कि सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना की सक्रिय संवाहिका के रूप में उपस्थित है। भास के नाटकों में नारी का चित्रण न तो केवल आदर्शवादी है और न ही मात्र करुणा या सौंदर्य तक सीमित, बल्कि वह कर्तव्य, साहस, त्याग, प्रेम, राजनीति और सामाजिक नैतिकता से गहराई से जुड़ा हुआ है। भास के नाटकों की नारी पात्र सामाजिक मर्यादाओं में रहते हुए भी स्वतंत्र चेतना से युक्त दिखाई देती हैं। वे अपने निर्णय स्वयं लेती हैं और परिस्थितियों का सामना आत्मबल के साथ करती हैं। स्वप्नवासवदत्ता की वासवदत्ता इसका श्रेष्ठ उदाहरण है। वासवदत्ता त्याग और आत्मबल की मूर्ति है, जो अपने पति उदयन की राजनीतिक सुरक्षा और राज्यहित के लिए स्वयं को त्याग देती है। यहाँ नारी का स्वरूप केवल पतिव्रता तक सीमित नहीं रहता, बल्कि वह राजधर्म और राष्ट्रहित की सहभागी बन जाती है। भास के कृतित्व में नारी की सामाजिक भूमिका परिवार की धुरी के रूप में भी स्पष्ट होती है। वह पत्नी, माता और पुत्री के रूप में सामाजिक संतुलन बनाए रखती है। प्रतिज्ञायौगन्धरायण में वासवदत्ता की गरिमा और धैर्य यह दर्शाते हैं कि नारी पारिवारिक विघटन की नहीं, बल्कि सामाजिक स्थिरता की आधारशिला है। भास की नारी न तो दुर्बल है और न ही निष्क्रिय; वह परिस्थिति की गंभीरता को समझती है और मौन रहकर भी निर्णायक भूमिका निभाती है।

सांस्कृतिक दृष्टि से भास की नारी पात्र भारतीय परंपराओं, संस्कारों और मूल्यों की प्रतिनिधि हैं। वे धर्म, कर्तव्य और मर्यादा का पालन करती हैं, किंतु अंधपरंपराओं की दास नहीं बनतीं। चारुदत्त नाटक में वसंतसेना एक गणिका होते हुए भी उच्च नैतिक मूल्यों की प्रतीक बनकर उभरती है। उसका चरित्र यह सिद्ध करता है कि भास के यहाँ सामाजिक प्रतिष्ठा जन्म या वर्ग से नहीं, बल्कि आचरण और मानवीय संवेदनशीलता से निर्धारित होती है। यह दृष्टि भास के सामाजिक चिंतन को प्रगतिशील बनाती है। भास के नाटकों में नारी का राजनीतिक और बौद्धिक पक्ष भी उभरकर सामने आता है। वे केवल भावनात्मक पात्र नहीं हैं, बल्कि परिस्थितियों का विवेकपूर्ण विश्लेषण करने में सक्षम हैं। नारी पात्र संवादों के माध्यम से सामाजिक अन्याय, सत्ता संघर्ष और नैतिक द्वंद्वों को उजागर करती हैं। इस संदर्भ में भास की नारी तत्कालीन समाज की मौन सहनशील नहीं, बल्कि चेतन और सजग इकाई के रूप में सामने आती है।

भास के कृतित्व में नारी के इस आदर्श और सशक्त स्वरूप को भारतीय सांस्कृतिक चेतना का प्रतीक माना जा सकता है। नारी को समाज की आधी आबादी नहीं, बल्कि आधी शक्ति के रूप में प्रस्तुत करना भास की दूरदर्शिता को दर्शाता है। इस संदर्भ में नारी की गरिमा को प्रतिपादित करने वाला यह श्लोक द्रष्टव्य है– **"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।"** अर्थात जहाँ नारी का सम्मान होता है, वहाँ देवताओं का वास होता है। भास के नाटकों में यह भावना सजीव रूप में प्रतिफलित होती है। अतः कहा जा सकता है कि भास के कृतित्व में नारी सामाजिक, सांस्कृतिक और नैतिक चेतना की केंद्रबिंदु है। वह त्याग, साहस, विवेक और मानवीय मूल्यों की प्रतीक बनकर उभरती है। इस प्रकार भास का नारी-चित्रण न केवल प्राचीन भारतीय समाज की यथार्थ झलक देता है, बल्कि आधुनिक संदर्भों में भी उसकी प्रासंगिकता को सिद्ध करता है।

भास के नाटकों में राजसत्ता, राजनीति एवं सामाजिक नैतिकता

महाकवि भास संस्कृत नाट्य परंपरा के प्राचीन और यशस्वी नाटककार हैं, जिनके नाटकों में राजसत्ता और राजनीति केवल सत्ता-प्रदर्शन का साधन नहीं, बल्कि सामाजिक नैतिकता और लोककल्याण से गहराई से जुड़ी हुई व्यवस्था के रूप में चित्रित होती है। भास का राजनीतिक चिंतन यथार्थवादी है, जिसमें राज्य, राजा, मंत्री और प्रजा–सभी की भूमिकाएँ परस्पर नैतिक दायित्वों से बंधी हुई दिखाई देती हैं। उनके नाटकों में राजनीति न तो छल-कपट की पर्याय है और न ही निरंकुश शक्ति का प्रतीक, बल्कि धर्म, न्याय और कर्तव्य पर आधारित शासन प्रणाली का आदर्श रूप प्रस्तुत करती है। भास के नाटकों में राजा को राजसत्ता का केंद्र माना गया है, किंतु वह सर्वशक्तिमान नहीं है। राजा का प्रमुख कर्तव्य प्रजा की रक्षा, न्याय की स्थापना और सामाजिक संतुलन बनाए रखना है। प्रतिज्ञायौगन्धरायण और स्वप्नवासवदत्ता जैसे नाटकों में राजा उदयन का चरित्र इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि राजा की व्यक्तिगत इच्छाएँ राज्यहित से ऊपर नहीं हो सकतीं। उदयन कई अवसरों पर अपने निजी सुख का त्याग कर राजधर्म का पालन करता है। इससे भास यह संकेत देते हैं कि राजसत्ता का नैतिक आधार त्याग और उत्तरदायित्व है।

भास के राजनीतिक चिंतन में मंत्रियों की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है। प्रतिज्ञायौगन्धरायण में यौगन्धरायण केवल एक चतुर राजनीतिज्ञ नहीं, बल्कि नैतिक विवेक से संपन्न राज्यसेवक के रूप में सामने आता है। उसकी कूटनीति व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए नहीं, बल्कि राज्य की सुरक्षा और दीर्घकालीन स्थिरता के लिए है। इससे यह स्पष्ट होता है कि भास की राजनीति नैतिक कूटनीति की समर्थक है, जहाँ नीति और नैतिकता एक-दूसरे के पूरक हैं। भास के नाटकों में राजसत्ता और समाज का घनिष्ठ संबंध दिखाया गया है। राजा की शक्ति का मूल्यांकन उसकी प्रजा के सुख-दुःख से होता है। चारुदत्त जैसे नाटकों में यह स्पष्ट होता है कि जब सत्ता न्याय से विमुख होती है, तब समाज में अन्याय और पीड़ा बढ़ती है। यद्यपि चारुदत्त का केंद्र व्यापारी वर्ग है, फिर भी इसमें राज्य की न्याय व्यवस्था और सामाजिक नैतिकता के प्रश्न उभरकर सामने आते हैं। भास इस माध्यम से संकेत करते हैं कि राजनीतिक व्यवस्था की नैतिकता ही सामाजिक जीवन की दिशा निर्धारित करती है। सामाजिक नैतिकता भास के नाटकों का एक प्रमुख आधार है। उनके यहाँ धर्म का अर्थ केवल धार्मिक अनुष्ठान नहीं, बल्कि कर्तव्य, सत्य और न्याय से जुड़ा हुआ जीवन-दर्शन है। राजा हो या सामान्य नागरिक, सभी के लिए नैतिक आचरण अनिवार्य है। भास यह स्वीकार करते हैं कि सत्ता का प्रयोग यदि धर्मविहीन हो जाए, तो वह समाज के लिए विनाशकारी सिद्ध होती है। इसी कारण उनके नाटकों में राजसत्ता पर नैतिक नियंत्रण स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है।

भास के नाटकों में युद्ध और राजनीति का संबंध भी नैतिकता से जुड़ा हुआ है। युद्ध केवल विजय प्राप्ति का साधन नहीं, बल्कि अंतिम विकल्प के रूप में प्रस्तुत किया गया है। राजा को युद्ध से पूर्व कूटनीति और संवाद के सभी मार्ग अपनाने चाहिए–यह संदेश भास की राजनीतिक दृष्टि को मानवतावादी बनाता है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि भास की राजनीति शक्ति-प्रधान नहीं, बल्कि विवेक-प्रधान है। राजधर्म की इस अवधारणा को व्यक्त करने वाला यह श्लोक भास की विचारधारा के अत्यंत समीप प्रतीत होता है–

"राजा धर्मेण पालयेत् प्रजाः सर्वाः समाहितः।
धर्मे हि स्थितराज्यानां कीर्तिर्भवति शाश्वती॥"

अर्थात राजा को धर्म के अनुसार समस्त प्रजा का पालन करना चाहिए, क्योंकि धर्मनिष्ठ शासन से ही राज्य की स्थायी कीर्ति होती है। अतः हम कह सकते है कि भास के नाटकों में राजसत्ता, राजनीति और सामाजिक नैतिकता एक-दूसरे से अविभाज्य रूप से जुड़ी हुई हैं। भास सत्ता को नैतिक अनुशासन में बाँधते हैं

और राजनीति को लोककल्याण का माध्यम बनाते हैं। उनका यह दृष्टिकोण न केवल प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन को प्रतिबिंबित करता है, बल्कि आधुनिक संदर्भों में भी सत्ता और नैतिकता के संतुलन की अनिवार्यता को रेखांकित करता है। इस प्रकार भास का कृतित्व राजनीतिक यथार्थवाद और नैतिक आदर्शवाद का सशक्त समन्वय प्रस्तुत करता है।

भास के कृतित्व में लोकजीवन, परंपराएँ एवं सांस्कृतिक मूल्य

महाकवि भास संस्कृत नाट्यपरंपरा के ऐसे सशक्त प्रतिनिधि हैं जिनके कृतित्व में तत्कालीन समाज का जीवंत लोकचित्र अत्यंत स्वाभाविक रूप से उभरकर सामने आता है। उनके नाटक केवल राजदरबार या वीर-नायकों की कथाओं तक सीमित नहीं हैं, बल्कि उनमें सामान्य जनजीवन, लोकमान्य परंपराएँ और सांस्कृतिक मूल्य समान रूप से अभिव्यक्त हुए हैं। भास का यह गुण उन्हें विशुद्ध जनकवि के रूप में प्रतिष्ठित करता है, क्योंकि वे समाज के प्रत्येक वर्ग–राजा, मंत्री, व्यापारी, दासी, गणिका और सामान्य नागरिक–सभी को समान संवेदनशीलता के साथ मंच पर प्रस्तुत करते हैं।

भास के नाटकों में लोकजीवन का यथार्थ चित्रण विशेष रूप से चारुदत्त में दिखाई देता है। इस नाटक में व्यापारी वर्ग, नगर जीवन, आर्थिक असमानता और मानवीय करुणा का अत्यंत मार्मिक चित्रण है। चारुदत्त जैसे पात्र तत्कालीन समाज के नैतिक आदर्शों को प्रतिबिंबित करते हैं, जहाँ निर्धनता भी चरित्र की महानता को कम नहीं कर पाती। लोकजीवन के संघर्ष, पीड़ा और आशा–तीनों का संतुलित चित्रण भास की सामाजिक दृष्टि की व्यापकता को दर्शाता है। परंपराओं के संदर्भ में भास के नाटक भारतीय सामाजिक संस्कारों और आचारों से गहराई से जुड़े हैं। विवाह, दाम्पत्य, गुरु-शिष्य परंपरा, अतिथि सत्कार और व्रत-धर्म जैसे तत्व उनके नाटकों में स्वाभाविक रूप से समाहित हैं। ये परंपराएँ केवल बाह्य आडंबर नहीं हैं, बल्कि सामाजिक समरसता और नैतिक अनुशासन की आधारशिला के रूप में प्रस्तुत की गई हैं। भास यह स्पष्ट करते हैं कि परंपराएँ तभी सार्थक हैं, जब वे मानवीय मूल्यों की रक्षा करें। भास के कृतित्व में सांस्कृतिक मूल्यों का स्वरूप अत्यंत व्यापक है। करुणा, सत्य, त्याग, प्रेम और कर्तव्यबोध जैसे मूल्य उनके नाटकों के केंद्रीय तत्व हैं। स्वप्नवासवदत्ता में वासवदत्ता का त्याग केवल व्यक्तिगत प्रेम का नहीं, बल्कि सांस्कृतिक मर्यादा और सामाजिक उत्तरदायित्व का प्रतीक है। इसी प्रकार प्रतिज्ञायौगन्धरायण में निष्ठा और वचनबद्धता को उच्च सांस्कृतिक आदर्श के रूप में स्थापित किया गया है।

लोकसंस्कृति के विभिन्न रूप–जैसे नगर जीवन, लोकविश्वास, धार्मिक आस्थाएँ और सामाजिक रीति-रिवाज–भास के नाटकों में जीवंत रूप में अभिव्यक्त होते हैं। उनके पात्र लोकभाषा की सरलता और भावनात्मक संवादों के माध्यम से दर्शकों से सीधा संवाद स्थापित करते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि भास की रचनाएँ केवल अभिजात वर्ग के लिए नहीं, बल्कि सामान्य जन की संवेदनाओं से जुड़ी हुई हैं। भास के नाटकों में सांस्कृतिक समन्वय की भावना भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वे सामाजिक विभाजन को उभारने के बजाय मानवीय एकता पर बल देते हैं। गणिका वसंतसेना का चरित्र इस बात का प्रमाण है कि सांस्कृतिक गरिमा जन्म या वर्ग से नहीं, बल्कि आचरण और संवेदना से निर्धारित होती है। यह दृष्टिकोण भास को अपने समय से आगे का नाटककार सिद्ध करता है। भास के कृतित्व में निहित लोकजीवन और सांस्कृतिक मूल्यों को अभिव्यक्त करने वाला यह श्लोक अत्यंत उपयुक्त है–

"संस्कृतिः मानवस्यैव जीवनस्याधारभूता।
तया विना न शोभन्ते लोका धर्मार्थकामयाः॥"

अर्थात संस्कृति मानव जीवन का आधार है; इसके बिना धर्म, अर्थ और काम भी शोभा नहीं पाते। अतः भास के कृतित्व में लोकजीवन, परंपराएँ और सांस्कृतिक मूल्य एक समग्र और जीवंत रूप में उपस्थित हैं। उनके नाटक भारतीय समाज की आत्मा को प्रतिबिंबित करते हैं, जहाँ परंपरा और परिवर्तन, आदर्श और यथार्थ, तथा लोक और शास्त्र–सभी का संतुलित समन्वय दिखाई देता है। इसी कारण भास का साहित्य न केवल ऐतिहासिक महत्व रखता है, बल्कि समकालीन समाज के लिए भी प्रेरणास्रोत बना हुआ है।

निष्कर्ष

महाकवि भास का कृतित्व संस्कृत नाट्य परंपरा में केवल प्राचीनता के कारण ही नहीं, बल्कि अपने गहन सामाजिक, सांस्कृतिक और नैतिक चिंतन के कारण भी विशिष्ट स्थान रखता है। भास के नाटक तत्कालीन समाज की यथार्थ झलक प्रस्तुत करते हुए मानवीय मूल्यों की सशक्त अभिव्यक्ति करते हैं। उनके साहित्य में समाज, सत्ता, नारी, लोकजीवन और संस्कृति–ये सभी तत्व परस्पर जुड़े हुए हैं और मिलकर एक समग्र सामाजिक दृष्टिकोण का निर्माण करते हैं। भास के नाटकों में सामाजिक संरचना और वर्णाश्रम व्यवस्था का चित्रण आदर्शवादी होते हुए भी यथार्थ से विमुख नहीं है। वे वर्ण और आश्रम को समाज की संगठनात्मक इकाइयों के रूप में स्वीकार करते हैं, किंतु कहीं भी मानव गरिमा को उनके अधीन नहीं करते। भास के पात्र अपने कर्तव्यों के प्रति सजग हैं और सामाजिक संतुलन बनाए रखने का प्रयास करते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि भास के लिए समाज का स्थायित्व केवल परंपरा से नहीं, बल्कि नैतिक आचरण से सुनिश्चित होता है।

नारी की सामाजिक एवं सांस्कृतिक भूमिका के संदर्भ में भास का दृष्टिकोण अत्यंत प्रगतिशील है। उनके नाटकों की नारी पात्र–वासवदत्ता, वसंतसेना आदि–त्याग, साहस, विवेक और संवेदनशीलता की प्रतीक हैं। भास नारी को मात्र करुणा या सौंदर्य की मूर्ति नहीं बनाते, बल्कि उसे निर्णयक्षम, आत्मसम्मानी और सामाजिक उत्तरदायित्व निभाने वाली शक्ति के रूप में प्रस्तुत करते हैं। यह दृष्टि भास को अपने युग से आगे का नाटककार सिद्ध करती है। राजसत्ता और राजनीति के क्षेत्र में भास का चिंतन नैतिकता पर आधारित है। उनके नाटकों में सत्ता का उद्देश्य प्रभुत्व नहीं, बल्कि लोककल्याण है। राजा, मंत्री और प्रशासनिक व्यवस्था सभी राजधर्म से बंधे हुए दिखाई देते हैं। भास की राजनीति कूटनीति और विवेक से युक्त है, जिसमें शक्ति का प्रयोग अंतिम विकल्प के रूप में किया जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि भास सत्ता और नैतिकता के संतुलन को सामाजिक स्थिरता के लिए अनिवार्य मानते हैं। लोकजीवन, परंपराएँ और सांस्कृतिक मूल्य भास के कृतित्व की आत्मा हैं। उनके नाटक केवल राजदरबारों तक सीमित नहीं रहते, बल्कि सामान्य जनजीवन के सुख-दुःख, संघर्ष और संवेदनाओं को भी मंच पर लाते हैं। व्यापारी, दासी, गणिका और सामान्य नागरिक–सभी पात्र भास के यहाँ समान मानवीय गरिमा के साथ उपस्थित होते हैं। यह लोकधर्मी दृष्टि भास को विशुद्ध शास्त्रीय नाटककार से आगे ले जाकर जनसंवेदनाओं का प्रवक्ता बनाती है।

सांस्कृतिक मूल्यों के स्तर पर भास का साहित्य भारतीय जीवन-दर्शन का प्रतिनिधित्व करता है। सत्य, धर्म, करुणा, त्याग, प्रेम और कर्तव्यबोध जैसे मूल्य उनके नाटकों के केंद्र में हैं। परंपराओं को वे जड़ रूप में नहीं, बल्कि मानवीय कल्याण से जुड़ी जीवंत प्रक्रिया के रूप में प्रस्तुत करते हैं। जहाँ परंपरा मानवता के विरुद्ध जाती है, वहाँ भास का साहित्य नैतिक विवेक का पक्ष लेता है। समग्र रूप से देखा जाए तो भास का कृतित्व सामाजिक यथार्थ और सांस्कृतिक आदर्शों का संतुलित समन्वय प्रस्तुत करता है। उनका साहित्य न केवल प्राचीन भारतीय समाज का दर्पण है, बल्कि आधुनिक समाज के लिए भी प्रेरक और प्रासंगिक है। सत्ता, समाज और संस्कृति के बीच नैतिक संतुलन की जो अवधारणा भास प्रस्तुत करते हैं, वह आज भी उतनी ही

महत्वपूर्ण है। इस प्रकार महाकवि भास का कृतित्व भारतीय साहित्य और चिंतन परंपरा में एक स्थायी और मार्गदर्शक प्रकाश-स्तंभ के रूप में प्रतिष्ठित होता है।

संदर्भ

1. भास – स्वप्नवासवदत्ता। चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, पृ. 12-45।
2. भास – प्रतिज्ञायौगन्धरायण। चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, पृ. 18-60।
3. भास – चारुदत्त। मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ. 25-78।
4. भास – अविमारक। चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ. 10-42।
5. भास – बालचरित। राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली, पृ. 15-50।
6. शर्मा, रामविलास – संस्कृत नाटक और सामाजिक यथार्थ। राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 92-135।
7. द्विवेदी, हजारीप्रसाद – भारतीय संस्कृति और साहित्य। लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 110-160।
8. कपूर, कपिल – भारतीय काव्यशास्त्र और सांस्कृतिक चिंतन। साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, पृ. 75-120।
9. अग्रवाल, वासुदेवशरण – भारतीय संस्कृति के तत्व। चौखम्बा ओरिएंटल, वाराणसी, पृ. 55-105।
10. सिंह, सत्यव्रत – संस्कृत नाट्य परंपरा का विकास। नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, पृ. 130-185।
11. Macdonell, A. A. — A History of Sanskrit Literature. Oxford University Press, London, pp. 356–382।
12. Warder, A. K. — Indian Kavya Literature (Vol. I). Motilal Banarsidass, Delhi, pp. 212–245।
13. Keith, A. B. — The Sanskrit Drama. Oxford University Press, London, pp. 97–145।
14. नागेन्द्र – संस्कृत साहित्य का इतिहास। मयूर पेपरबैक्स, नई दिल्ली, पृ. 185-230।
15. मिश्र, शिवकुमार – संस्कृत नाटक में सामाजिक चेतना। विद्या प्रकाशन, वाराणसी, पृ. 65-115।

पर्यावरण संरक्षण में जनजातीय परंपराएँ : सहरिया और उरांव जनजाति के संदर्भ में

आरती*
डॉ. शिल्पी गुप्ता**

जनजातीय संस्कृति के मुख्य पहलुओं में से एक उनका पर्यावरण से संबंध है, उन्होंने पर्यावरण को पवित्र मानकर उसकी रक्षा की है। पर्यावरण संपूर्ण मानव संस्कृति का एक अभिन्न अंग है। इसके संरक्षण के बिना मानव अस्तित्व सुरक्षित नहीं है। जनजातियाँ एक सामाजिक समूह का प्रतिनिधित्व करती हैं ,जो आमतौर पर पारंपरिक संस्कृति के अनुसार जंगल या दुर्गम स्थानों में रहती हैं। 2011 की जनगणना के अनुसार, भारत में लगभग 705 विभिन्न जनजातियाँ निवास करती हैं। पर्यावरण आदिवासी समुदायों की संस्कृति का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है और उन्होंने लंबे समय से इसे पवित्र माना है। आज की दुनिया जहां औद्योगीकरण, वनों के दोहन की ओर अग्रसर है, वहीं तेजी से घटते वनों और बदलते पर्यावरण के संरक्षण में जनजातीय समुदाय की महत्वपूर्ण भूमिका है। कार्बन डाइऑक्साइड की बढ़ती मात्रा मानव और प्रकृति के अस्तित्व के लिए संकट पैदा कर रही है। तेजी से घटते जंगलों और बदलते पर्यावरण को बचाने के लिए सदियों से जंगलों से जुड़े आदिवासी समुदाय की अहम भूमिका रही है।पर्यावरण संरक्षण हमेशा से भारत के जनजातीय समुदायों का एक अभिन्न अंग रहा है। मध्य भारत की सहरिया और उरांव जनजातियाँ दो ऐसी जनजातियाँ हैं, जिनका अपनी पारंपरिक जीवन शैली और पर्यावरण के बीच संतुलन बनाए रखने का एक लंबा इतिहास रहा है। उनके त्यौहार, उत्सव इस परंपरा का प्रतिबिंब है क्योंकि इसमें कई गतिविधियां शामिल हैं, जो उनकी संस्कृति की निरंतरता के लिए पर्यावरण संरक्षण के महत्व पर जोर देती हैं। उनका समाज अपनी लोक संस्कृति, त्यौहारों और मान्यताओं में जल, जंगल और जमीन को करीब से जोड़े रखता है।

सहरिया जनजाति

सहरिया जनजाति एक आदिवासी समूह हैं, जो मुख्य रूप से भारत में राजस्थान, छत्तीसगढ़ और मध्यप्रदेश राज्यों में निवास करता है। सहरिया ज्यादातर एक कृषि समुदाय है,जो खेती और पशुपालन पर निर्भर हैं। ये सदियों से अपनी अनूठी संस्कृति और परंपराओं का पालन करता आ रहा है। हर साल, वे पर्यावरण का सम्मान करने के लिए भोजली/भुजरिया त्यौहार मनाते हैं।[1]इस त्यौहार में अच्छी वर्षा व अच्छी फसल के लिए प्रार्थना की जाती है।

वृक्ष पूजन संबंधी त्यौहारों के संदर्भ में– (भोजली/भुजरिया उत्सव)

भोजली उत्सव राजस्थान के भंवरगढ़ एवं शाहाबाद क्षेत्र में सहरिया जनजाति द्वारा मनाया जाने वाला प्रसिद्ध लोक उत्सव है। यह त्यौहार मुख्य रूप से महिलाओं द्वारा मनाया जाता है। यह त्यौहार श्रावण के महीने में रक्षा बंधन के दूसरे दिन मनाया जाता है। पर्व की तैयारी श्रावण मास की अष्टमी से शुरू हो जाती है। छोटे–छोटे गमलों और टोकरियों में उगाए जाने वाले खेव या जौ जिसे भोजली कहा जाता है, उन्हें नागपंचमी के दिन महिलाओं द्वारा अपने घरों में बोया जाता है।[2] लोकपर्व के दिन महिलाएं उगे हुए भोजली को सिर पर रखकर समूहों में नदी तक जाती हैं। वहां भोजली का आदान–प्रदान करके एक दूसरे के गले मिलती हैं।नदी पर पूजा–अर्चना के साथ भोजली गीत गाए जाते हैं। गीत मे भोजली को देवी गंगा के रूप में बताया गया है–

अहो देवी गंगा ,अहो देवी गंगा लहर तुरंगा हो।
तुहार लहर में मैया भीगे आठो अंगा हो।[3]

* शोधार्थी, वनस्थली विद्यापीठ, ई–मेल : arti1529@gmail.com, मोबाइल नं. : 9113433833
** एसोसिएट प्रोफेसर, वनस्थली विद्यापीठ, ई–मेल : shilpigupta@banasthali.in, मोबाइल नं. : 9414543087

[1] पारख, प्रतापचंद,छत्तीसगढ का पारंपरिक त्यौहार भोजली,छत्तीसगढः बिहनिया, 2013, वाल्यूम 11,पृ. 52.

[2] शंकर, विवेक,सहरिया समाज एवं संस्कृति, जयपुरःराजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी,2014, पृ. 79.

[3]वही,पृ. 77.

कंवर सिंह सहरिया का मानना है, कि भोजली अनुष्ठान प्रकृति पूजा का एक रूप है,जिसमें लोग भू जली के लिए या भूमि को पानी से भरने क लिए प्रार्थना करते हैं। भोजली भुजरिया न केवल सहरिया संस्कृ ति का जश्न मनाता है बल्कि विभिन्न समुदायों के लोगों को एक साथ आने का अवसर भी प्रदान करता है।[4]

उरांव जनजाति

उरांव जनजाति जनसंख्या के हिसाब से झारखंड की दूसरी सबसे बड़ी जनजाति है तथा ये झारखण्ड के अलावा मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, बंगाल, उत्तर प्रदेश, असम, त्रिपुरा, अंडमान और निकोबार द्वीप समूह आदि राज्यों में निवास करती है। उरांव जनजाति प्रकृति से घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं। उरांव अपने त्यौहारों के दौरान 'भूमि पूजा' करते हैं,जो धरती माता के प्रति आभार व्यक्त करने का एक समारोह है। यह अनुष्ठान यह सुनिश्चित करने के लिए किया जाता है, कि उनकी गतिविधियाँ किसी भी तरह से पर्यावरण को नुकसान न पहुँचाए। जनजाति 'फूल उत्सव' (फूल महोत्सव) भी मनाती है, जहां वे प्रकृति माता को फूल चढ़ाते हैं और समृद्धि तथाकल्याण के लिए उनका आशीर्वाद मांगते हैं। इसके अलावा, वे प्रकृति के प्रति सम्मान के प्रतीक के रूप में वृक्षारोपण अभियान भी चलाते हैं। जनजाति प्रकृति के साथ अपने संबंधों को बहुत अधिक महत्व देती है।[5]पर्यावरण उनके लिए दैनिक जीवन में भी बहुत महत्वपूर्ण है और यह उनकी लोक कलाओं, त्यौहारों और संस्कृति में देखा जा सकता है। वे पर्यावरण के साथ अपने दो महत्वपूर्ण त्यौहार भी मानते हैं : 1. करमा(अच्छी फसल के जश्न हेतु) 2.सरहुल(नए फूल के आगमन के जश्न हेतु)मनाया जाता है।

वृक्ष पूजन संबंधी त्यौहारों के संदर्भ में–

करमा पूजा –करमा झारखंड की उरांव जनजाति का प्रमुख त्यौहार है, जो पर्यावरण से संबंधित है। यह पर्व भादो मास के शुक्ल पक्ष की एकादशी को मनाया जाता है। इस पर्व को मनाने का मुख्य उद्देश्य प्रकृति से प्रार्थना करना और धान की बुवाई के बाद अच्छी फसल की कामना करना है। साथ ही बहनें अपने भाइयों के सुख–समृद्धि और दीर्घायु की कामना करती हैं। इस अवसर पर करम डाली की भी पूजा की जाती है। करमा पूजा के दौरान उरांव गांव के एक मंदिर में इकट्ठा होते हैं और अपने देवताओं की पूजा करके उन्हें प्रसाद चढ़ाते हैं। वे पारंपरिक नृत्य, संगीत और नाटक का आयोजन भी करते हैं। इसके अतिरिक्त, वे सद्भावना और मित्रता के संकेत के रूप में एक दूसरे के साथ उपहारों का आदान–प्रदान करते हैं। त्यौहार एक भव्य दावत के साथ समाप्त होता है, जिसमें मौसम के दौरान उनके खेतों से काटा हुआ भोजन शामिल होता है।[6] करमा पर्व के कुछ दिन पूर्व युवतियां नदी या तालाब से साफ व महीन बालू उठाकर डाली में भर लाती हैं। इस डाली में जौ, गेहूँ, धान, मक्का, उड़द, चना और कुर्थी बोई जाती हैं। इसे एक साफ जगह पर रखा जाता है और दूसरे दिन से धूप धुवन दिखाकर मुख्य द्वार पर पूजा करने के बाद हल्दी के पानी से सिंचित किया जाता है। पर्व के दिन बहनें अपने सबसे अच्छे कपड़े पहनती हैं और सजती–संवरती हैं। शाम को गांव के बुजुर्ग अपने खास कपड़े पहन कर करम की शाखा काटने जाते हैं। वे इसे उतारते समय गीत गाते और मांदर बजाते हैं। यह याद रखना महत्वपूर्ण है कि करम की शाखा जमीन पर नहीं गिरनी चाहिए। इसे काटने के बाद इसे घर के आंगन में ले जाकर पूजा की जाती है।[7]

---

[4] पारख, प्रतापचंद,छत्तीसगढ का पारंपरिक त्यौहार भोजली,छत्तीसगढः बिहनिया, 2013, वाल्यूम 11,पृ. 74

[5] उरांव तेतरु,उरांव लोक साहित्य, राँची :झारखण्ड झरोखा,2021 पृ. 51–70.

[6] चंद्रा.एस.सी, उरांव रिलीजन एण्ड कस्टम, नई दिल्लीः ज्ञान पब्लिकेशन हाउस, 1915, पृ. 231–238.

[7] वही,पृ. 241–247.

करम का पेड़ पर्यावरण के लिए बेहद जरूरी है। यह हवा को साफ और संतुलित रखने में मदद करता है। उरांव जनजाति के अनुसार करम का पेड़ 24 घंटे ऑक्सीजन प्रदान करता है। यह मनुष्यों के लिए पर्यावरण को स्वच्छ और स्वस्थ रखने में मदद करता है।उरांव जनजाति सदियों से करमा पूजा मनाते आ रहे हैं क्योंकि ऐसा माना जाता है कि यह उनके लिए सौभाग्य और भरपूर फसल लेकर आता है। यह भी माना जाता है कि इस त्यौहार का आध्यात्मिक महत्व है क्योंकि यह पूरे समुदाय को एक साथ लाता है और उनके अच्छे भाग्य के लिए धन्यवाद देने का अवसर प्रदान करता है। त्यौहार के दौरान, वे अपने देवी–देवताओं के सम्मान में स्तुति के गीत गाते हैं और उन्हें अच्छी फसल प्राप्त करने में मदद करने के लिए धन्यवाद देते हैं।उरांव करमा पूजा के दौरान विभिन्न अनुष्ठान करते हैं ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि उनका आने वाला वर्ष समृद्ध हो।[8] वे यह सुनिश्चित करने के लिए पूजा करते हैं कि देवता उनसे प्रसन्न हों और उन्हें आने वाले वर्ष के लिए पर्याप्त भोजन का आशीर्वाद दें। वे उन चीजों से सुरक्षा के लिए प्रार्थना करते हैं जो उनकी फसलों को बर्बाद कर सकती हैं, जैसे बाढ़ और सूखा। इस तरह से उपरोक्त दोनों त्यौहारों मे पर्यावरण की महत्ता को देखा जा सकता है।जनजातीय लोगों का प्रकृति के साथ गहरा संबंध है जो ना केवल पौधों बल्कि जानवरों के साथ उनके संबंधों में भी परिलक्षित होता है।[9]

पशु पूजा संबधी त्यौहारों के संदर्भ में –जनजातियाँ, जो अक्सर शिकार से जुड़ी होती हैं, वास्तव में जानवरों के साम्राज्य के साथ एक जटिल और सम्मानजनक रिश्ता रखती हैं। वे जानवरों को अपने समुदाय के हिस्से के रूप में देखते हैं और उन्हें जीवित आत्माओं के रूप में सम्मान देते हैं, जिनकी सम्मान और रक्षा की जानी चाहिए। कुछ प्रजातियां जैसे कि हिरण, भैंस, बैल और गाय को आध्यात्मिक मार्गदर्शक या शिक्षक के रूप में देखा जाता है। उनके प्रति जनजातियों की श्रद्धा में यह स्पष्ट दिखाई देता है। सहरिया एवं उरांव जनजातियों के पशु संबंधित दो महत्वपूर्ण त्यौहार भी मनाये जाते हैं–1. गोवर्धन 2. सोहराय

गोवर्धन पूजा(सहरिया जनजाति)– मध्य प्रदेश और राजस्थान की प्राचीन सहरिया जनजाति की एक समृद्ध संस्कृति और परंपरा है जो उनके लिए अद्वितीय है। सहरिया लोगों द्वारा मनाए जाने वाले सबसे महत्वपूर्ण त्यौहारों में से एक गोवर्धन पूजा है। यह त्यौहार दोनों राज्यों में बड़े उत्साह के साथ मनाया जाता है और पीढ़ियों से चला आ रहा है।गोवर्धन पूजा के दिन सहरिया जाति के गाँवों में बैलों की शोभायात्रा भी निकाली जाती है, जहाँ लोग अपने बैलों को रंग–बिरंगे वस्त्रों और मालाओं से सजाते हैं। जुलूस के बाद, इंद्र पर भगवान कृष्ण की जीत को चिह्नित करने के लिए ग्रामीणों के घरों से गाय का गोबर एकत्र किया जाता है और एक बड़े क्षेत्र में फैलाया जाता है। ऐसा माना जाता है कि इस कार्य में भाग लेने वाले सभी लोगों के लिए समृद्धि और सौभाग्य का आगमन होता है।[10]

---

[8] वही,पृ. 246

[9] तिरकी,भीखू ,उरांव–सरना धर्म और संस्कृति ,राँची : झारखण्ड झरोखा, 2011,पृ. 193–209

[10] वर्मा. बंदन .सिंह, सहरिया आदिम जनजाति का संक्षिप्त परिचय , (लेख) , पृ .7.

इस प्रकार, यह कहा जा सकता है कि गोवर्धन पूजा सहरिया संस्कृति का एक अभिन्न अंग है जो पीढ़ियों से चली आ रही है। इस त्यौहार का उत्सव मध्य प्रदेश और राजस्थान दोनों के सदस्यों को एक साथ लाता है, क्योंकि वे अपने गौरवशाली अतीत को याद करने और एक समृद्ध भविष्य की आशा करने के लिए एक साथ आते हैं।

सोहराय त्यौहार (उरावं जनजाति)– सोहराय मुख्य रूप से झारखंड और उसके आसपास के राज्यों के छोटा नागपुर पठार क्षेत्र में मनाया जाता है। यह आमतौर पर अक्टूबर से दिसंबर के महीनों के दौरान मनाया जाता है, जो फसलों की कटाई के लिए सबसे अच्छे महीने माने जाते हैं। यह त्यौहार मानसून के अंत का भी प्रतीक है और सर्दियों की तैयारी शुरू करने के लिए एक अनुस्मारक के रूप में कार्य करता है।सोहराय के दौरान, मवेशियों को चमकीले रंगों से सजाया जाता है और उनके गले में घंटियाँ लगाई जाती हैं।[11] सींघों को चमकीले रंगों से रंगा जाता है, और फूलों को उनके पुतलों में बुना जाता है। लोग पवित्र पशुओं के रूप में उनकी प्रशंसा करते हुए भक्ति गीत गाते हुए गायों की पूजा करते हैं। इस अनुष्ठान को इन जानवरों के प्रति सम्मान की पेशकश के रूप में देखा जाता है, जो इस क्षेत्र में प्राचीन काल से कृषि जीवन का अभिन्न अंग रहे हैं।उरांव लोगों का मानना है कि इस त्यौहार के दौरान गायों की पूजा करने से उनके जीवन में सौभाग्य, समृद्धि, स्वास्थ्य और धन की प्राप्ति होती है। गायों को इस अवसर के हिस्से के रूप में दूध से बनी स्वादिष्ट मिठाई भी दी जाती है, जो इन जानवरों के लिए प्यार और प्रशंसा का प्रतीक है, जो उन्हें पूरे वर्ष भोजन और जीविका दोनों प्रदान करते हैं।[12]

एक धार्मिक उत्सव होने के अलावा, सोहराय निकट और दूर से लोगों को एक साथ आने और एक ही छत के नीचे संगीत, नृत्य, दावत, कहानी आदि के माध्यम से एक साथ जीवन का जश्न मनाने का एक तरीका भी प्रदान करता है। यह स्थानीय संस्कृति का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है, जो सूखे या अकाल जैसे कठिन समय के दौरान भी समुदायों को एक साथ लाता है, जब मवेशी पानी या भोजन की उपलब्धता की कमी के कारण दुर्लभ संसाधन बन जाते हैं।

गोवर्धन व सोहराय सिर्फ इन जानवरों का ही नहीं बल्कि प्रकृति का भी उत्सव मनाता है – यह मिट्टी, पानी आदि जैसे प्राकृतिक संसाधनों पर हमारी निर्भरता को पहचानने के बारे में है, जो पृथ्वी पर जीवन का समर्थन करते हैं, जिसके बिना कुछ भी जीवित नहीं रह सकता है। यह एक सुंदर अनुस्मारक है, कि हमें अपने पर्यावरण का ख्याल रखना चाहिए यदि हम चाहते हैं कि हमारी आने वाली पीढ़ियां भी समृद्ध हों।

---

[11] भगत,सुरेश, पर्यावरण संरक्षण में जनजातियों की भूमिका, राँचीः जर्नल ऑफ झारखण्ड ट्राइबल रिसर्च इंस्टिट्यूट ,2008 वॉल्यूम 43, पृ. 32–36.

[12] रॉय एस. सी उरांव रिलीजन एण्ड कस्टम नई दिल्लीः ज्ञान पब्लिकेशन हाउस, 2004 पृ.15

सहरिया और उरांव जाति का एक लंबा और आकर्षक इतिहास है, जिसे भारतीय सभ्यता के प्राचीन युग में देखा जा सकता है। आज भी कई चुनौतियों का सामना करते हुए, ये दोनों समुदाय अपनी भाषा, परंपराओं और त्यौहारों के माध्यम से अपनी सांस्कृतिक पहचान बनाए हुए है। यह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि सहरिया और उरांव दोनों जनजातियाँ अपने त्यौहारों को मनाते समय पर्यावरण संरक्षण को अत्यधिक महत्व देती हैं क्योंकि वे इसे अपनी पारंपरिक जीवन शैली को बनाए रखने के लिए महत्वपूर्ण मानती हैं, जो प्रकृति से निकटता से जुड़ी हुई है। यह उन्हें भारत की आदिवासी विरासत का एक महत्वपूर्ण हिस्सा बनाता है, जिसे आने वाली पीढ़ियों के लिए संरक्षित किया जाना चाहिए। सहरिया एवं उरांव जनजाति के जीवन का पारंपरिक तरीका पर्यावरण और प्रकृति से गहराई से जुड़ा हुआ है। बढ़ती ग्लोबल वार्मिंग के साथ, इन लोगों को अपनी भूमि और जीवन के तरीके के लिए बड़े खतरों का सामना करना पड़ रहा है। उनकी संस्कृति की रक्षा में मदद करने के लिए इको–टूरिज्म एक व्यवहार्य समाधान है।इसके लाभ पर्यावरण संरक्षण और आर्थिक विकास से परे हैं, यह पीढ़ी–दर–पीढ़ी परंपराओं को जीवित रखते हुए स्वदेशी जनजातियों की संस्कृति को संरक्षित करने में भी मदद करता है। इको–टूर के माध्यम से पर्यटकों को भाषा, रीति–रिवाजों, विश्वासों, संगीत और आदिवासी जीवन के अन्य पहलुओं के बारे में जानने के लिए प्रोत्साहित करता है। इस प्रकार का पर्यटन यह सुनिश्चित करता है, कि औद्योगिकीकरण और वैश्वीकरण के आधुनिक दबावों के बावजूद ये संस्कृतियां भविष्य की पीढ़ियों में जारी रहेंगी।अतः यह कहा जा सकता है, कि इको–टूरिज्म भारत में सहरिया एव उरांव जनजातीय समुदायों के लिए पर्यटन गतिविधियों से आर्थिक रूप से लाभान्वित होने के साथ–साथ अपने पर्यावरण और प्रकृति की रक्षा के लिए एक प्रभावी तरीका प्रदान कर सकता है।

संदर्भ

1. रॉय, शरत. चंद्र. द उरांव ऑफ छोटानागपुर, कलकत्ता : द ब्रह्मो मिशन प्रेस, 1915, पृ. 17–51.
2. रॉय, एस. सी, उरांव रिलीजन एण्ड कस्टम, नई दिल्लीः ज्ञान पब्लिकेशन हाउस, 2004, पृ1–15.
3. हाय, केसरी. एन. 1968. इम्पेक्ट ऑफ क्रिश्चिनिटी ऑन द उरांव ऑफ द चैनपुर बेल्ट इन
4. छोटनागपुर : एन एनालिसिस ऑफ इट्स कल्चरल प्रोसेस, अमेरिकन एंथ्रोपोलोजीस्टस न्यूसीरीज, 1968, वोल्यूम. 70, पृ. 923–942.
5. रॉय, एस. सी, उरांव रिलीजन एण्ड कस्टम, नई दिल्ली : ज्ञान पब्लिकेशन हाउस, 2004, पृ.136–172.
6. उरांव, तेतरु. उरांव लोक साहित्य, राँची : झारखण्ड झरोखा, 2021 पृ. 33–70.
7. रॉय, शरतचंद्र. द उरांव ऑफ छोटानागपुर, कलकत्ता : द ब्रह्मो मिशन प्रेस, 1915, पृ.153–161.
8. तिरकी, भीखू. उरांव–सरना धर्म और संस्कृति, राँची : झारखण्ड झरोखा, 2011, पृ. 193–209
9. भगत, नारायण : छोटानागपुर के उरांव रीति–रिवाज,रांची; झारखंड झरोखा, 2013, पृ 65–73

माध्यमिक स्तर पर राजकीय, अनुदानित एवं स्ववित्तपोषित विद्यालयों में शिक्षणरत् महिला शिक्षिकाओं के समायोजन का तुलनात्मक अध्ययन

डॉ. एस. पी. सिंह वत्स*
अनूप कुमार यादव**

सारांश

प्रस्तुत शोध का उद्देश्य माध्यमिक स्तर पर राजकीय, अनुदानित एवं स्ववित्तपोषित विद्यालयों में शिक्षण कार्य में संलग्न महिला शिक्षिकाओं के समायोजन का तुलनात्मक अध्ययन करना है, अर्थात इस अध्ययन में विद्यालय प्रकार के आधार पर तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। वर्तमान शैक्षिक व्यवस्था में महिला शिक्षिकाओं से केवल शैक्षणिक दायित्वों के निर्वहन की ही नहीं, बल्कि विद्यालयीय, पारिवारिक एवं सामाजिक भूमिकाओं के संतुलन की भी अपेक्षा की जाती है। ऐसी परिस्थितियों में उनका समायोजन स्तर न केवल उनके व्यक्तिगत जीवन को प्रभावित करता है, बल्कि शिक्षण की प्रभावशीलता तथा विद्यालय के वातावरण पर भी प्रभाव डालता है। यह अध्ययन वर्णनात्मक सर्वेक्षण विधि पर आधारित है। अध्ययन के निष्कर्षों से यह ज्ञात हुआ कि राजकीय एवं अनुदानित विद्यालयों में कार्यरत महिला शिक्षिकाओं का समायोजन स्तर अपेक्षाकृत संतोषजनक पाया गया। इसके प्रमुख कारण वेतन असमानता, कार्य-दबाव, भूमिका-संघर्ष, प्रशासनिक सहयोग की कमी तथा सेवा-शर्तों में अस्थिरता हो सकते हैं।

मुख्य शब्द : समायोजन, महिला शिक्षिकाएं, माध्यमिक स्तर, विद्यालय प्रकार।

प्रस्तावना

शिक्षा व्यवस्था को समाज के समग्र विकास का एक महत्वपूर्ण आधार माना जाता है तथा इस व्यवस्था की सफलता में शिक्षकों, विशेष रूप से शिक्षिकाओं की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण होती है। माध्यमिक स्तर पर शिक्षणरत् महिला शिक्षिकाएँ विद्यार्थियों के शैक्षिक विकास के साथ-साथ उनके सामाजिक, नैतिक एवं भावनात्मक निर्माण में भी उल्लेखनीय योगदान देती हैं। समायोजन से तात्पर्य उस प्रक्रिया से है, जिसके माध्यम से व्यक्ति अपने व्यक्तिगत आवश्यकताओं तथा बाह्य परिस्थितियों के बीच सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास करता है। यदि शिक्षिकाएँ अपने कार्य-पर्यावरण, सहकर्मियों, विद्यार्थियों एवं प्रशासन के साथ समुचित समायोजन नहीं कर पाती हैं, तो यह स्थिति उनके मानसिक संतुलन एवं कार्य-प्रदर्शन को प्रभावित करती है। माध्यमिक स्तर पर शिक्षण कार्य अपेक्षाकृत अधिक जिम्मेदारीपूर्ण होता है, जहाँ पाठ्यक्रम की व्यापकता, परीक्षा-प्रणाली का दबाव तथा विद्यार्थियों की विविध आवश्यकताएँ शिक्षिकाओं के समायोजन को और भी चुनौतीपूर्ण बना देती हैं।

वर्तमान शैक्षिक व्यवस्था में विद्यालयों को मुख्यतः राजकीय, अनुदानित एवं स्ववित्तपोषित विद्यालयों की श्रेणी में विभाजित किया जाता है। इन विद्यालयों की कार्य-परिस्थितियाँ, प्रशासनिक ढाँचा, सेवा-शर्तें तथा उपलब्ध संसाधन एक-दूसरे से भिन्न पाए जाते हैं। परिणामस्वरूप, इनमें कार्यरत महिला शिक्षिकाओं के समायोजन स्तर में भी अंतर होना स्वाभाविक प्रतीत होता है। यद्यपि महिला शिक्षिकाओं के समायोजन से संबंधित कुछ अध्ययन पूर्व में किए गए हैं, परंतु माध्यमिक स्तर पर विभिन्न प्रकार के विद्यालयों में कार्यरत

* (शोध निर्देशक) एसोसिएट प्रोफेसर, कमला नेहरू भौतिकी एवं सामाजिक विज्ञान संस्थान, सुल्तानपुर (डॉ० राम मनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय, अयोध्या, उ० प्र०)
** शोध छात्र, कमला नेहरू भौतिकी एवं सामाजिक विज्ञान संस्थान, सुल्तानपुर
Email: anoop311285@gmail.com

महिला शिक्षिकाओं के समायोजन का तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षाकृत सीमित रहा है। इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत अध्ययन में माध्यमिक स्तर पर राजकीय, अनुदानित एवं स्ववित्तपोषित विद्यालयों में शिक्षणरत् महिला शिक्षिकाओं के समायोजन का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। यह अध्ययन शिक्षिकाओं की वास्तविक स्थिति को समझने में सहायक होगा तथा शैक्षिक प्रशासकों एवं नीति-निर्माताओं को शिक्षिका-हित में उपयुक्त निर्णय लेने की दिशा प्रदान करेगा।

सम्बन्धित साहित्य का सर्वेक्षण

पारिख (2024) के अध्ययन से पता चलता है कि, 'गुजरात राज्य के विभिन्न लिंगों, क्षेत्र, स्कूलों के प्रकार, शिक्षण माध्यम और उच्चतर माध्यमिक विज्ञान शिक्षकों द्वारा पढ़ाए जाने वाले विषय के बीच शैक्षिक समस्या और समायोजन सूचियों के माध्य स्कोर में महत्वपूर्ण अंतर है। परिणामस्वरूप, किसी भी उपचारात्मक उपाय को लागू करने से पहले उन बाधाओं, अवरोधों और अक्षमताओं को समझना आवश्यक और तर्कसंगत है, जो गुजरात राज्य के उच्चतर माध्यमिक विज्ञान शिक्षकों की शैक्षिक समस्याओं और समायोजनों पर काबू पाने में सबसे महत्वपूर्ण हैं'।[1]

कश्यप (2023) के अध्ययन से ज्ञात होता है 'कि महिला कॉलेज शिक्षिकाएँ अपने पुरुष समकक्षों की तुलना में अपने कॉलेज के वातावरण के साथ अधिक समायोजित होती हैं। इस समायोजन को कई कारकों के लिए जिम्मेदार ठहराया जा सकता है, जिनमें महिलाओं का सहयोग के प्रति स्वाभाविक झुकाव, उनका सहानुभूतिपूर्ण स्वभाव और एक साथ कई काम करने की उनकी क्षमता शामिल है। इसके अतिरिक्त, महिला शिक्षिकाएँ पारस्परिक संबंधों को बेहतर बनाने और एक सकारात्मक एवं समावेशी शिक्षण वातावरण बनाने में अधिक कुशल हो सकती हैं। हालाँकि, यह ध्यान रखना महत्वपूर्ण है कि लिंग एक शिक्षक के व्यक्तित्व का केवल एक पहलू है, और कई अन्य कारक भी हैं जो प्रभावित कर सकते हैं'।[2]

सुनील कुमार एवं आनंद कुमार (2023) के अध्ययन में 'माध्यमिक स्तर पर अध्ययनरत् छात्र तथा छात्राओं के मध्य शैक्षिक समायोजन स्तर में सार्थक अंतर पाया गया, तथा प्राप्त मध्यमान के आधार पर यह भी निष्कर्ष पाया गया कि छात्रों का शैक्षिक समायोजन स्तर छात्राओं से बेहतर पाया गया है। माध्यमिक स्तर पर अध्ययनरत छात्र तथा छात्राओं के मध्य सामाजिक समायोजन स्तर में कोई सार्थक अन्तर नहीं पाया गया'।[3]

क्रुशनदेव (2023) के अध्ययन से पता चलता है कि, 'जामनगर जिले में प्राथमिक, माध्यमिक और उच्चतर माध्यमिक विद्यालय की महिला शिक्षिकाओं के सामाजिक समायोजन प्राप्तांक पुरुष स्कूल शिक्षकों की तुलना में अधिक हैं। जामनगर जिले के शहरी शिक्षकों के सामाजिक समायोजन अंक जामनगर जिले के ग्रामीण स्कूल शिक्षकों की तुलना में कम हैं। जामनगर जिले के सरकारी स्कूल शिक्षकों के सामाजिक समायोजन अंक जामनगर जिले के निजी स्कूल शिक्षकों की तुलना में अधिक हैं।[4]

सिंह एवं सिंह (2021) के अध्ययन से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि, "शिक्षक-शिक्षा में अध्यापनरत शिक्षकों के समायोजन क्षमता पर लिंग एवं महाविद्यालयी प्रकृति का प्रत्यक्ष प्रभाव पाया गया। शिक्षक-शिक्षा में अध्यापनरत महिला शिक्षकों की समायोजन क्षमता पुरुष शिक्षकों से उच्च पायी गयी। वित्तपोषित शिक्षक-शिक्षा संस्थानों के शिक्षकों की समायोजन क्षमता स्ववित्तपोषित शिक्षक-शिक्षा संस्थानों के शिक्षकों से उच्च पायी गयी"।[5]

यादव (2020) के अध्ययन में 'शिक्षक ठहराव (Teacher freezing) के संबंध में माध्यमिक विद्यालय के शिक्षकों के बीच समायोजन में महत्वपूर्ण अंतर देखा गया। समायोजन के संदर्भ में पुरुष शिक्षकों में शिक्षक ठहराव में कोई महत्वपूर्ण अंतर नहीं दिखाया गया। समायोजन के संदर्भ में महिला शिक्षकों में भी शिक्षक ठहराव में कोई महत्वपूर्ण अंतर नहीं दिखाया गया। माध्यमिक विद्यालय के शिक्षकों के बीच शिक्षक ठहराव और समायोजन के बीच नकारात्मक लेकिन महत्वपूर्ण संबंध था'।[6]

शोध-अंतराल

महिला शिक्षिकाओं के समायोजन से संबंधित उपलब्ध शोध साहित्य के अध्ययन से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि इस विषय पर विभिन्न दृष्टिकोणों से अनुसंधान किए गए हैं, तथापि इन अध्ययनों का अधिकांश भाग सामान्य रूप से शिक्षकों की समस्याओं, कार्य-दबाव अथवा व्यावसायिक तनाव तक ही सीमित रहा है। माध्यमिक स्तर पर शिक्षणरत् महिला शिक्षिकाओं के समायोजन का तुलनात्मक अध्ययन विद्यालय प्रकार के आधार अपेक्षाकृत कम दिखाई देते हैं। इसके अतिरिक्त, अधिकांश अध्ययनों में राजकीय विद्यालयों को ही अनुसंधान का आधार बनाया गया है। अनुदानित एवं स्ववित्तपोषित विद्यालयों में कार्यरत महिला शिक्षिकाओं की कार्य-परिस्थितियाँ, प्रशासनिक ढाँचा तथा सेवा-शर्तें भिन्न होते हुए भी उनके समायोजन का तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित रूप से कम किया गया है जिस कारण विद्यालय प्रकार के आधार पर महिला शिक्षिकाओं के समायोजन के तुलनात्मक अध्ययन का शोध अंतराल स्पष्ट झलकता है जिसकी पूर्ति में यह अध्ययन सहायक सिद्ध हो सकता है।

अध्ययन के उद्देश्य

- माध्यमिक स्तर पर राजकीय, अनुदानित एवं स्ववित्तपोषित विद्यालयों में शिक्षणरत् महिला शिक्षकों के समायोजन का तुलनात्मक अध्ययन करना।

शोध परिकल्पना

- माध्यमिक स्तर पर राजकीय, अनुदानित एवं स्ववित्तपोषित विद्यालयों में शिक्षणरत् महिला शिक्षकों के समायोजन के मध्य सार्थक अन्तर है।

शोध अध्ययन की प्रविधि

- **शोध विधि**

  प्रस्तुत अध्ययन की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए 'वर्णनात्मक सर्वेक्षण विधि' का प्रयोग किया गया है।

- **जनसंख्या, प्रतिचयन विधि एवं प्रतिदर्श**

  प्रस्तुत अध्ययन में प्रयागराज मण्डल में विभिन्न प्रकार के माध्यमिक विद्यालयों (राजकीय, अनुदानित और स्ववित्तपोषित) में कार्यरत सभी महिला शिक्षिकाएं शामिल हैं। जनसंख्या से प्रतिदर्श चयन के लिए यादृच्छिक प्रतिचयन विधि का प्रयोग किया गया। प्रतिदर्श चयन के लिए प्रयागराज मंडल से दो जिलों (प्रयागराज एवं प्रतापगढ़) का चयन किया गया। अब प्रयागराज जिले से 75 महिला शिक्षिकाओं को चुना गया, जिनमें सभी तीन विद्यालय प्रकार; राजकीय, अनुदानित और स्ववित्तपोषित, समान रूप से (प्रत्येक से 25 महिला शिक्षिकाएं) शामिल हैं। इसी प्रकार प्रतापगढ़ जनपद से भी 75 महिला शिक्षिकाओं का चयन किया गया। इस तरह कुल मिलाकर राजकीय विद्यालय से 50, अनुदानित विद्यालय से 50 और स्ववित्तपोषित विद्यालय से 50 अर्थात कुल मिलाकर 150 महिला शिक्षिकाओं का चयन किया गया।

- **शोध उपकरण**

  प्रस्तुत अध्ययन में एस. के. मंगल द्वारा निर्मित 'शिक्षक समायोजन परिसूची' का प्रयोग किया गया है।

- **प्रदत्त विश्लेषण विधि**

  इस अध्ययन में प्रदत्तों के विश्लेषण के लिए 'एकमार्गीय प्रसरण विश्लेषण' एवं 'पोस्ट-हॉक परीक्षण' का प्रयोग किया गया है।

प्रदत्तों का विश्लेषण एवं व्याख्या

Table- 1				
One-Way ANOVA (Fisher's)				
	F	**df1**	**df2**	**p**
Adjustment Score	8.03	2	147	<.001

उपरोक्त सारणी में एकमार्गीय विचरण विश्लेषण (One-Way ANOVA) के परिणाम को दिखाया गया है जो माध्यमिक स्तर पर राजकीय, अनुदानित एवं स्ववित्तपोषित विद्यालयों में शिक्षणरत् महिला शिक्षिकाओं के समायोजन अंकों में अंतर की जाँच हेतु किया गया है। प्राप्त F-मान 8.03 है, जिसके लिए स्वतंत्रता कोटि $df_1 = 2$ तथा $df_2 = 147$ है। इस विश्लेषण से प्राप्त p-मान < .001 पाया गया है, जो 0.05 के स्तर से कम है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि तीनों प्रकार के विद्यालयों में कार्यरत महिला शिक्षिकाओं के समायोजन अंकों के मध्य सांख्यिकीय दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण अंतर विद्यमान है। अतः यह कहा जा सकता है कि विद्यालय के प्रकार का महिला शिक्षिकाओं के समायोजन पर प्रभाव पड़ता है।

Table- 2				
Tukey Post-Hoc Test – Adjustment Scores of Female Teachers				
		Aided	**Government**	**Self Finance**
Aided	Mean difference	—	10	37.3
	t-value	—	1.04	3.87
	df	—	147	147
	p-value	—	0.55	<.001
Government	Mean difference		—	27.3
	t-value		—	2.83
	df		—	147
	p-value		—	0.01
Self Finance	Mean difference			—
	t-value			—
	df			—
	p-value			—

ANOVA द्वारा प्राप्त सार्थक अंतर की दिशा ज्ञात करने हेतु पोस्ट-हॉक परीक्षण किया गया, जिसके परिणाम तालिका-2 में प्रदर्शित हैं।

अनुदानित एवं राजकीय विद्यालयों में कार्यरत महिला शिक्षिकाओं के समायोजन अंकों के मध्य औसत अंतर 10 पाया गया है, जिसका p-मान 0.55 है। यह अंतर सांख्यिकीय रूप से सार्थक नहीं है। इससे यह स्पष्ट होता है कि अनुदानित एवं राजकीय विद्यालयों की महिला शिक्षिकाओं के समायोजन स्तर में कोई महत्वपूर्ण अंतर नहीं पाया गया है।

वहीं अनुदानित एवं स्ववित्तपोषित विद्यालयों की महिला शिक्षिकाओं के समायोजन अंकों के मध्य औसत अंतर 37.3 पाया गया, जिसका p-मान < .001 है। यह अंतर अत्यंत सार्थक है, जो यह दर्शाता है कि इन दोनों प्रकार के विद्यालयों की शिक्षिकाओं के समायोजन स्तर में स्पष्ट अंतर विद्यमान है।

इसी प्रकार, राजकीय एवं स्ववित्तपोषित विद्यालयों की महिला शिक्षिकाओं के समायोजन अंकों के मध्य औसत अंतर 27.3 पाया गया तथा p-मान 0.01 प्राप्त हुआ, जो 0.05 स्तर पर सार्थक है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि राजकीय विद्यालयों की महिला शिक्षिकाओं का समायोजन स्तर स्ववित्तपोषित विद्यालयों की तुलना में बेहतर है।

निष्कर्ष एवं सुझाव

प्रस्तुत अध्ययन से प्राप्त आँकड़ों के विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि माध्यमिक स्तर पर विभिन्न प्रकार के विद्यालयों में शिक्षणरत् महिला शिक्षिकाओं के समायोजन स्तर में स्पष्ट तथा महत्वपूर्ण

अंतर विद्यमान है। एकमार्गीय विचरण विश्लेषण के परिणाम यह दर्शाते हैं कि विद्यालय की प्रकृति महिला शिक्षिकाओं के समायोजन को प्रभावित करती है। पोस्ट-हॉक परीक्षण से यह तथ्य स्पष्ट हुआ कि राजकीय एवं अनुदानित विद्यालयों में कार्यरत महिला शिक्षिकाओं के समायोजन स्तर में कोई विशेष अंतर नहीं पाया गया, जिससे यह संकेत मिलता है कि इन दोनों प्रकार के विद्यालयों में उपलब्ध परिस्थितियाँ अपेक्षाकृत समान हैं।

इसके विपरीत, स्ववित्तपोषित विद्यालयों में कार्यरत महिला शिक्षिकाओं का समायोजन स्तर राजकीय एवं अनुदानित विद्यालयों की तुलना में कम पाया गया है। यह स्थिति मुख्यतः कार्य-दबाव, अस्थिर सेवा-शर्तों, सीमित प्रशासनिक सहयोग तथा भूमिका-संघर्ष के कारण उत्पन्न होती है, ऐसा इस अध्ययन से प्रतीत होता है। कई बार शिक्षिकाओं को शैक्षणिक दायित्वों के अतिरिक्त अन्य कार्यों का भार भी वहन करना पड़ता है, जिससे उनका मानसिक संतुलन प्रभावित होता है।

अतः यह सुझाव दिया जा सकता है कि स्ववित्तपोषित विद्यालयों में शिक्षिकाओं के लिए सेवा-नियमों में स्थिरता लाने का प्रयास किया जाना चाहिए। प्रशासनिक स्तर पर सहयोगात्मक वातावरण विकसित करना, कार्य-दायित्वों का संतुलित वितरण करना तथा महिला शिक्षिकाओं को निर्णय-निर्माण में आंशिक रूप से सम्मिलित करना आवश्यक प्रतीत होता है। यदि इन पहलुओं पर समय रहते ध्यान दिया जाए, तो शिक्षिकाओं के समायोजन स्तर में सुधार संभव है।

शैक्षिक निहितार्थ

प्रस्तुत अध्ययन के निष्कर्षों से यह शैक्षिक निहितार्थ उभरकर सामने आता है कि महिला शिक्षिकाओं का समायोजन विद्यालयी व्यवस्था की गुणवत्ता से प्रत्यक्ष रूप से जुड़ा हुआ है। समुचित समायोजन की स्थिति में शिक्षिकाएँ अपने शिक्षण कार्य को अधिक रुचि, धैर्य एवं आत्मविश्वास के साथ संपन्न कर पाती हैं, जिससे शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया अधिक प्रभावी बनती है। इसके विपरीत, समायोजन की कमी की स्थिति में शिक्षण की गुणवत्ता प्रभावित होना स्वाभाविक है।

यह अध्ययन शैक्षिक प्रशासकों का ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित करता है कि स्ववित्तपोषित विद्यालयों में महिला शिक्षिकाओं की समस्याओं की उपेक्षा दीर्घकाल में शैक्षिक लक्ष्यों को कमजोर कर सकती है। अतः विद्यालय प्रबंधन को चाहिए कि वह शिक्षिकाओं के समायोजन को केवल व्यक्तिगत समस्या न मानकर, संस्थागत उत्तरदायित्व के रूप में देखे।

नीति-निर्माताओं के लिए भी यह अध्ययन महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह विभिन्न प्रकार के विद्यालयों में कार्यरत महिला शिक्षिकाओं की स्थितियों में विद्यमान असमानताओं को उजागर करता है। शिक्षक-कल्याण एवं कार्य-जीवन संतुलन से संबंधित योजनाओं को सभी विद्यालयों में समान रूप से लागू करने से शिक्षा-प्रणाली को अधिक संतुलित एवं प्रभावी बनाया जा सकता है।

सन्दर्भ

1. Parikh, Rupang G. (2024). *Problems and Adjustment of Higher Secondary Education Science Teachers of Gujarat* (Unpublished Thesis). Sabarmati University, Ahmedabad, pp. 195, https://shodhganga.inflibnet.ac.in/handle/10603/593612
2. Kashyap, A. (2023) *A study of the influence of institutional environment on adjustment, morale and job satisfaction of college teachers* (Unpublished Thesis). M.J.P. Rohilkhand university, Bareilly, pp. 95-96, https://shodhganga.inflibnet.ac.in/handle/10603/543202
3. कुमार ए. & कुमार एस. (2024). वरिष्ठ माध्यमिक विद्यालय के विद्यार्थियों में शैक्षिक समायोजन स्तर एवं सामाजिक समायोजन स्तर का अध्ययन. ISSN 2394-773X, अधिगम अंक 28 : सितम्बर 2023, पृष्ठ. 79-99, https://www.researchgate.net/publication/377666260_varistha_madhyamika_vidyalaya_ke_vidyarthiyom_mem_saiksika_samayojana_stara_evam_samajika_samayojana_stara_ka_adhyayana_A_study_Educational_Adjustment_and_Social_adjustment_on_secondary_school_student

4. Krushandev, K. V. (2023). A psychological study of anxiety, emotional maturity and social adjustment among government and private school teachers of Jamnagar district (unpublished thesis). Bhakta Kavi Narsinh Mehta University, Junagadh, pp. 332, https://shodhganga.inflibnet.ac.in/handle/10603/632948
5. Singh, S. K. & Singh, S. (2021). Shikshak shiksha men adhyayanrat shikshakon ki samayojan chamta ka tulnaatmak adhyayan. *Annals of Multi-Disciplinary Research.* ISSN 2249-8893. Vol.-11. 109-112. PP. 109-112, https://www.researchgate.net/publication/393797460_Shikshak_shiksha_men_adhyayanrat_shikshakon_ki_samayojan_chamta_ka_tulnaatmak_adhyayan
6. Yadav, S. (2020). *Teacher freezing among secondary school teachers in relation to their sense of humor, organizational climate and adjustment* (Unpublished Thesis). Maharshi Dayanand university, Rohtak, pp. 151, https://shodhganga.inflibnet.ac.in/handle/10603/326424

महिलाओं के विरुद्ध हिंसा की तुलनात्मक प्रवृत्तिः गया जिला में एक मनोवैज्ञानिक अध्ययन

डॉ. सोनी कुमारी*

सार–

प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य महिलाओं के विरुद्ध हिंसा की तुलनात्मक प्रवृत्ति को देखना है। इन दोनों क्षेत्रों में हिंसा की प्रवृत्तियों का तुलनात्मक विश्लेषण करना तथा उनके मनोवैज्ञानिक प्रभावों को समझना है। अध्ययन में मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण के आधार पर यह ज्ञात हुआ कि शहरी महिलाओं में अवसाद, चिंता और तनाव का स्तर अधिक होता है, जबकि ग्रामीण महिलाएँ सामाजिक बदनामी और पारिवारिक दबाव के कारण हिंसा को सामान्य मानकर सहन करने को बाध्य होती हैं। अध्ययन यह भी इंगित करता है कि दोनों क्षेत्रों में हिंसा की रिपोर्टिंग दर वास्तविक हिंसा से काफी कम है, क्योंकि महिलाएँ कानूनी प्रक्रियाओं, सामाजिक प्रतिकूलता और आर्थिक असुरक्षा के कारण शिकायत दर्ज कराने से बचती हैं। निष्कर्षतः, ग्रामीण और शहरी दोनों क्षेत्रों में महिलाओं के विरुद्ध हिंसा सामाजिक, मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक कारकों से प्रभावित होती है, जिनके समाधान हेतु लक्षित हस्तक्षेप, शिक्षा, परामर्श सेवाएँ और कानून के प्रभावी क्रियान्वयन की आवश्यकता है।

मूल शब्द– महिला हिंसा, मनोवैज्ञानिक प्रभाव, लैंगिक असमानता, पितृसत्ता, उत्पीड़न, मानसिक स्वास्थ्य, सामाजिक संरचना, आदि।

महिलाओं के विरुद्ध हिंसा मानव सभ्यता के इतिहास में लंबे समय से एक गंभीर समस्या के रूप में विद्यमान रही है। यह हिंसा केवल शारीरिक आक्रमण तक सीमित नहीं है, बल्कि मानसिक, भावनात्मक, यौन, सामाजिक और आर्थिक रूपों में भी स्पष्ट रूप से प्रकट होती है। विश्व स्वास्थ्य संगठन और संयुक्त राष्ट्र के अनुसार, महिला हिंसा को मानवाधिकारों का गंभीर उल्लंघन माना जाता है, जो महिलाओं के संपूर्ण व्यक्तित्व, स्वायत्तता, आत्मसम्मान और मानसिक स्वास्थ्य को गहराई से प्रभावित करती है। महिलाओं को घरेलू हिंसा से संरक्षण अधिनियम (2005) में भारत के संदर्भ में, तेज रफ्तार शहरीकरण, परंपरागत ग्रामीण जीवन और सामाजिक मान्यताओं के विविध स्वरूप महिलाओं के विरुद्ध हिंसा की प्रकृति को और अधिक जटिल बनाते हैं।[1]

ग्रामीण और शहरी भारत दोनों ही क्षेत्रों में महिलाओं के विरुद्ध हिंसा के कारण अलग–अलग सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों से प्रभावित होते हैं। पांडे, एस. (2006). ग्रामीण समुदायों में अभी भी पितृसत्ता की मजबूत पकड़, रूढ़िवादी सोच, अशिक्षा, आर्थिक निर्भरता और सीमित सामाजिक गतिशीलता के कारण हिंसा के पारंपरिक रूप जैसे शारीरिक प्रहार, भावनात्मक उत्पीड़न, दहेज हिंसा और परिवार द्वारा नियंत्रण अधिक देखा जाता है। पांडे (2006) के अध्ययन में पाया गया कि ग्रामीण क्षेत्रों में कानून की जानकारी अत्यंत सीमित थी, जिसके कारण रिपोर्टिंग दर कम रही। इसके विपरीत, शहरी महिलाओं में कानूनी पहुँच अधिक पाई गई, परंतु मानसिक हिंसा का प्रतिशत बढ़ता हुआ देखा गया।[2] कई बार महिलाएँ सामाजिक प्रतिष्ठा, परिवार की मर्यादा और सामुदायिक दबाव के कारण हिंसा की शिकायत तक नहीं कर पातीं। राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो (2007–2014) में हिंसा एक "सामान्य" या "स्वाभाविक" घटना के रूप में स्वीकार कर ली जाती है, जो महिलाओं के मानसिक स्वास्थ्य पर दीर्घकालिक नकारात्मक प्रभाव छोड़ती है।[3] वहीं शहरी क्षेत्रों में आधुनिक जीवनशैली, बढ़ती आर्थिक जिम्मेदारियाँ, कामकाजी वातावरण का तनाव, दांपत्य संघर्ष, साइबर उत्पीड़न, भावनात्मक दूरी और सोशल मीडिया की भूमिका हिंसा के नए आयामों को उजागर करती है। देसाई, एस., एवं एंड्री, एस. (2008), यद्यपि शहरी महिलाओं में शिक्षा, स्वतंत्रता और कानूनी जागरूकता अधिक होती है, फिर भी भावनात्मक और मनोवैज्ञानिक हिंसा का प्रचलन यहां विशेष रूप से अधिक पाया जाता है। इसमें व्यंग्य, अपमान, नियंत्रण, मानसिक दबाव, गैसलाइटिंग, साइबर स्टॉकिंग और

* पी–एच0 डी0, समाजशास्त्र विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया, बिहार
Mob. No. : 6206061850, E-mail Id: soni35267@gmail.com

डिजिटल दुर्व्यवहार जैसे सूक्ष्म रूप शामिल हैं, जो तुरंत दिखाई नहीं देते, परंतु मानसिक स्वास्थ्य को अत्यधिक प्रभावित करते हैं। देसाई और आंद्रे (2008) ने भारत में किए गए राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण (NFHS–3, 2005–06) के आंकड़ों का विश्लेषण करते हुए पाया कि ग्रामीण क्षेत्रों में 39% जबकि शहरी क्षेत्रों में 26.00 प्रतिशत महिलाओं ने किसी न किसी रूप में घरेलू हिंसा का अनुभव किया। अध्ययन ने शिक्षा, आर्थिक स्थिति और निर्णय–लेने की क्षमता को हिंसा में अंतर लाने वाले प्रमुख कारक बताया।[4]

इन दोनों भौगोलिक क्षेत्रों में हिंसा की प्रवृत्ति में अंतर के पीछे मनोवैज्ञानिक कारक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन (2005) ग्रामीण समाज में पारिवारिक नियंत्रण, सामाजिक सामूहिकता तथा "लिंग आधारित भूमिकाओं" की कठोर अपेक्षाएँ महिलाओं के दमन को वैधता प्रदान करती हैं। शहरी समाज में व्यक्तिगत स्वतंत्रता बढ़ने के साथ–साथ तनाव, अकेलापन, प्रतिस्पर्धा और सामाजिक अलगाव बढ़ते हैं, जो हिंसा के मनोवैज्ञानिक कारण बनते हैं।[5]

विश्व स्वास्थ्य संगठन (2013) महिलाओं के विरुद्ध हिंसा विश्व के प्रत्येक समाज में व्याप्त एक गंभीर मानवाधिकार समस्या है, जो न केवल शारीरिक चोट पहुँचाती है, बल्कि महिलाओं के मानसिक, भावनात्मक और सामाजिक अस्तित्व को भी गहराई से प्रभावित करती है।[6] भारत जैसे विविध सामाजिक–सांस्कृतिक संरचना वाले देश में ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों में हिंसा के स्वरूप, कारण और मनोवैज्ञानिक प्रभावों में उल्लेखनीय अंतर पाया जाता है (गार्सिया– मोरेनो, सी.,2005)।[7]

ग्रामीण क्षेत्रों में पितृसत्ता, कम शैक्षिक स्तर, आर्थिक निर्भरता और सामाजिक रूढ़ियों के कारण शारीरिक, आर्थिक और सामाजिक हिंसा का प्रतिशत अधिक पाया जाता है। वहीं शहरी क्षेत्रों में कार्यस्थल तनाव, वैवाहिक असंतोष, साइबर उत्पीड़न, भावनात्मक हिंसा और मानसिक दबाव प्रायः अधिक देखे जाते हैं।

अनेक अध्ययन दर्शाते हैं कि हिंसा के प्रभाव ग्रामीण और शहरी दोनों क्षेत्रों में महिलाओं के मानसिक स्वास्थ्य को गंभीर नुकसान पहुँचाते हैं। हीसे, एल. (2011) ने शारीरिक हिंसा के साथ–साथ PTSD, अवसाद, चिंता, नींद की समस्याएँ, आत्मघाती विचार, आत्मसम्मान में कमी और सामाजिक अलगाव जैसे परिणाम आमतौर पर देखे जाते हैं। ग्रामीण महिलाओं में आत्म–अभिव्यक्ति की कमी और सहायता संसाधनों तक सीमित पहुँच के कारण मानसिक पीड़ा अधिक गहरी होती है, जबकि शहरी महिलाएँ सामाजिक प्रतिस्पर्धा और भावनात्मक दबाव के कारण अधिक मानसिक तनाव का अनुभव करती हैं।[8]

2012 के निर्भया कांड के बाद कई शोध (बत्रा, 2013) ने शहरी स्थानों, सार्वजनिक परिवहन और साइबर स्पेस में महिलाओं की सुरक्षा पर नए परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत किए। इन अध्ययनों में शहरी महिलाओं में भय, चिंता और सामाजिक प्रतिबंधों की वृद्धि को प्रमुख मनोवैज्ञानिक प्रभाव बताया गया।[9]

महत्वपूर्ण बात यह है कि दोनों क्षेत्रों में हिंसा की वास्तविक स्थिति रिपोर्ट किए गए मामलों से कहीं अधिक गंभीर होती है। बत्रा, एस. (2013) ग्रामीण क्षेत्रों में डर, शर्म, सामाजिक बदनामी और निर्भरता बाधा बनते हैं, जबकि शहरी क्षेत्रों में कानूनी जटिलताएँ, सामाजिक छवि का भय और निजी जीवन में हस्तक्षेप की चिंता रिपोर्टिंग को सीमित करती है।

इन जटिलताओं को समझना और दोनों क्षेत्रों में हिंसा के मनोवैज्ञानिक कारकों की तुलना करना अत्यंत आवश्यक है, ताकि समस्या के समाधान हेतु प्रभावी नीतियाँ, काउंसलिंग सेवाएँ, सामुदायिक जागरूकता और मानसिक स्वास्थ्य सहायता विकसित की जा सके। इसी उद्देश्य से यह अध्ययन ग्रामीण और शहरी दोनों क्षेत्रों में महिलाओं के विरुद्ध हिंसा की प्रवृत्तियों का मनोवैज्ञानिक तुलनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

साल 2005 से 2015 के बीच महिलाओं के विरुद्ध हिंसा पर अनेक अंतरराष्ट्रीय एवं भारतीय अध्ययनों ने महत्वपूर्ण निष्कर्ष प्रस्तुत किए। इस अवधि में शोध का केंद्र बिंदु घरेलू हिंसा, लिंग आधारित हिंसा, मानसिक स्वास्थ्य प्रभाव, ग्रामीणदृशहरी अंतर तथा लैंगिक असमानता रहा। भारत में The Protection of Women from Domestic Violence Act (2005) के लागू होने के पश्चात कई अध्ययन इस कानून की प्रभावशीलता, महिलाओं की जागरूकता और व्यावहारिक चुनौतियों पर केंद्रित थे।

राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो (2007–2014) की वार्षिक रिपोर्टों से यह स्पष्ट होता है कि घरेलू हिंसा, दहेज उत्पीड़न और यौन अपराधों में निरंतर वृद्धि हुई। आंकड़ों ने यह भी दर्शाया कि ग्रामीण क्षेत्रों में शारीरिक हिंसा, जबकि शहरी क्षेत्रों में यौन एवं मानसिक हिंसा का अनुपात अधिक था।

विश्व स्वास्थ्य संगठन (2005–2013) की रिपोर्टों में महिलाओं पर हिंसा के मानसिक स्वास्थ्य प्रभावों को विशेष रूप से रेखांकित किया गया, जिनमें अवसाद, चिंता, PTSD और आत्मघाती प्रवृत्तियाँ शामिल थीं।

इन रिपोर्टों ने यह भी संकेत दिया कि सामाजिक समर्थन की कमी और पितृसत्तात्मक संरचनाएँ हिंसा के प्रमुख कारक माने गए।

अंतरराष्ट्रीय स्तर पर, Garcia Moreno et al- (2005) के बहु–देशीय अध्ययन ने यह पाया कि निम्न आय वाले देशों, खासकर दक्षिण एशिया में, महिलाओं के विरुद्ध हिंसा के सांस्कृतिक और सामाजिक मूल अधिक गहरे हैं।[10] इसी अवधि में Heise (2011) ने हिंसा के "इकोलॉजिकल मॉडल" को लोकप्रिय किया, जिसमें व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामुदायिक और सामाजिक कारकों से हिंसा को समझाया गया।

कुल मिलाकर 2005–2015 का साहित्य इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि महिलाओं के विरुद्ध हिंसा एक गहन सामाजिक और मनोवैज्ञानिक समस्या है।[11] ग्रामीण और शहरी दोनों क्षेत्रों में इसके रूप अलग होते हुए भी, इसकी जड़ें पितृसत्ता, आर्थिक निर्भरता, लैंगिक असमानता और सामाजिक मान्यताओं में निहित हैं।

अध्ययन का महत्व– ग्रामीण व शहरी दोनों क्षेत्रों में हिंसा के कारणों को मनोवैज्ञानिक रूप से समझने में मदद मिलेगी। नीति–निर्माताओं, पुलिस प्रशासन, सामाजिक कार्यकर्ताओं और काउंसलर्स के लिए उपयोगी निष्कर्ष प्राप्त होंगे। समाज में महिलाओं के मानसिक स्वास्थ्य पर हिंसा के प्रभावों को उजागर किया जा सकेगा। क्षेत्र विशेष के अनुसार अलग–अलग रोकथाम रणनीतियों का निर्माण संभव होगा। क्या ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में महिलाओं के विरुद्ध हिंसा की प्रकृति, आवृत्ति और मनोवैज्ञानिक प्रभावों में अंतर पाया जाता है?

परिकल्पना– ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों की महिलाओं के विरुद्ध हिंसा के स्तर में सार्थक अंतर पाया जाता है। ग्रामीण क्षेत्रों में शारीरिक–आर्थिक हिंसा अधिक, शहरी क्षेत्रों में मानसिक/भावनात्मक हिंसा अधिक होगी।

अध्ययन की कार्यप्रणाली–

(क) शोध डिजाइन– यह अध्ययन तुलनात्मक वर्णनात्मक एवं मात्रात्मक शोध डिजाइन पर आधारित है। इसका उद्देश्य ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों में महिलाओं के विरुद्ध हिंसा के मनोवैज्ञानिक प्रभावों की तुलना करना है।

(ख) अध्ययन क्षेत्र– अध्ययन बिहार राज्य के मगध प्रमंडल (गया जिला) के चयनित ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों में किया गया।

(ग) नमूना– कुल नमूना आकार 40 है जिसे ग्रामीण क्षेत्र से 20 महिलाएँ और शहरी क्षेत्र 20 महिलाओं को जिनकी आयु सीमा 20–45 वर्ष है का नमूना चयन Random विधि प्रयोजनपरक लिया गया।

(घ) डेटा संग्रह उपकरणः महिला हिंसा मापन प्रश्नावली (स्वनिर्मित/मानकीकृत) का मनोवैज्ञानिक तनाव स्केल, अवसाद मापन सूचकांक एवं संरचित साक्षात्कार पर लेना रहा।

(ड) डेटा संग्रह प्रक्रिया– शोधकर्ता ने दोनों क्षेत्रों में जाकर प्रतिभागियों से गुमनाम रूप से जानकारी प्राप्त की। डेटा को स्कोरिंग मैनुअल के अनुसार संकलित किया गया और सांख्यिकीय विश्लेषण के लिए कंप्यूटर आधारित कार्यक्रम का उपयोग किया गया।

(च) सांख्यिकीय विश्लेषण– ग्रामीण एवं शहरी समूहों के औसतों की तुलना हेतु स्वतंत्र नमूना टी–अनुपात का उपयोग किया गया।

परिणाम– परिकल्पना कि जांच करने पर ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों की महिलाओं के विरुद्ध हिंसा के स्तर में सार्थक अंतर पाया जएगा। ग्रामीण क्षेत्रों में शारीरिक–आर्थिक हिंसा अधिक, शहरी क्षेत्रों में मानसिक/भावनात्मक हिंसा अधिक होने वाली घटनाओं को सारणी–1 में विभक्त किया जा रहा हैः–

सारणी–1

ग्रामीण एवं शहरी हिंसा स्कोर समूह के माध्य मान का स्कोर में सार्थक अंतर

महिला समूह	N	हिंसा स्कोर		टी–अनुपात	Df	सार्थकता अंतर
		माध्य	SD			
ग्रामीण	20	62.40	8.21	3.15	38	p<0.01
शहरी	20	54.10	7.43			

सरणी–1 में ग्रामीण एवं शहरी हिंसा स्कोर समूह के माध्य मान का स्कोर में टी–अनुपात=3.15, df=38, p<0.01) प्राप्त है। ग्रामीण महिलाओं में (माध्य–62.40 और SD–8.20) पाया गया। वहीं शहरी महिला समूहों में (माध्य–54.10 और SD–7.40) पाया गया। अतः परिणाम सांख्यिकीय रूप से सार्थक है। इसका अर्थ है कि ग्रामीण एवं शहरी महिलाओं के हिंसा–स्तर में स्पष्ट और महत्वपूर्ण अंतर पाया गया।

ग्रामीण महिलाओं का हिंसा स्कोर अधिक पाया गया, जो दर्शाता है कि ग्रामीण क्षेत्र में शारीरिक, आर्थिक एवं सामाजिक नियंत्रण आधारित हिंसा अधिक होती है। शहरी महिलाओं में मानसिक एवं भावनात्मक हिंसा अधिक देखी गई–अपमान, तनाव, साइबर उत्पीड़न, गैसलाइटिंग आदि। ग्रामीण महिलाओं में हिंसा की रिपोर्टिंग कम पाई गई क्योंकि वे सामाजिक बदनामी व पारिवारिक दबाव के अधीन रहती हैं। शहरी महिलाओं में अवसाद, चिंता व मानसिक दबाव अपेक्षाकृत अधिक था, जो आधुनिक जीवनशैली, प्रतिस्पर्धा और कार्यस्थल तनाव से जुड़ा है।

5. निष्कर्ष– अध्ययन से स्पष्ट हुआ कि महिलाओं के विरुद्ध हिंसा ग्रामीण एवं शहरी दोनों वातावरणों में विद्यमान है, परंतु इसकी प्रकृति, तीव्रता और मनोवैज्ञानिक प्रभावों में स्पष्ट भिन्नता पाई जाती है। ग्रामीण क्षेत्रों में पारंपरिक पितृसत्ता, आर्थिक निर्भरता और सामाजिक रूढ़ियों के कारण शारीरिक एवं आर्थिक उत्पीड़न अधिक देखने को मिलता है। शहरी क्षेत्रों में भावनात्मक, मानसिक, साइबर और कार्यस्थल संबंधी हिंसा का प्रतिशत अधिक है। टी–अनुपात के अनुसार दोनों समूहों के बीच हिंसा के स्तर में सार्थक अंतर पाया गया, जो परिकल्पना को समर्थन देता है। अतः महिलाओं के विरुद्ध हिंसा एक बहुआयामी समस्या है, जिसके लिए दोनों क्षेत्रों की परिस्थितियों के अनुरूप समाधान आवश्यक है।

सुझाव

क. ग्रामीण क्षेत्रों के लिए– महिलाओं के आर्थिक सशक्तिकरण हेतु स्व–सहायता समूह और कौशल विकास कार्यक्रम बढ़ाए जाएँ। पंचायत स्तर पर महिला सुरक्षा समितियों का गठन। घरेलू हिंसा पर कानूनी जागरूकता शिविर। ग्रामीण स्कूलों व समुदायों में लैंगिक समानता पर प्रशिक्षण।

ख. शहरी क्षेत्रों के लिए– कार्यस्थल पर POSH (Sexual Harassment Act) के कड़े पालन की व्यवस्था। साइबर अपराध से सुरक्षा हेतु महिलाओं को डिजिटल जागरूकता। शहरी महिलाओं के लिए मनोवैज्ञानिक काउंसलिंग केंद्र स्थापित किए जाएँ।

ग. सामान्य सुझाव– हिंसा पीड़ित महिलाओं के लिए हेल्पलाइन और त्वरित सहायता सेवाओं को सुदृढ़ किया जाए। कानून लागू करने वाली एजेंसियों को संवेदनशीलता प्रशिक्षण। परिवार और समुदाय के स्तर पर लैंगिक समानता एवं सम्मान की संस्कृति विकसित की जाए। साथ ही मीडिया के माध्यम से महिला सुरक्षा व अधिकारों पर व्यापक अभियान चलाते रहना भी जरूरी है।

संदर्भ सूची

1. महिलाओं को घरेलू हिंसा से संरक्षण अधिनियम (2005). भारत सरकार।
2. पांडे, एस. (2006). भारत में घरेलू हिंसा– संरक्षण कानूनों की भूमिका. इंडियन जर्नल ऑफ सोशल वर्क, 67(3), 345–360।
3. राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो (NCRB). (2007–2014). क्राइम इन इंडिया. गृह मंत्रालय, भारत सरकार।
4. देसाई, एस., एवं एंड्री, एस. (2008). भारत में घरेलू हिंसा : NFHS–3 (2005–06) के साक्ष्य. राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण।
5. विश्व स्वास्थ्य संगठन (2005). महिलाओं के स्वास्थ्य एवं घरेलू हिंसा पर बहु–देशीय अध्ययन. जेनेवाः विश्व स्वास्थ्य संगठन प्रेस।
6. विश्व स्वास्थ्य संगठन (2013). महिलाओं के विरुद्ध हिंसा के वैश्विक एवं क्षेत्रीय अनुमान. जेनेवा।
7. गार्सिया– मोरेनो, सी., जैनसेन, एच., एल्सबर्ग, एम., हीसे, एल., एवं वॉट्स, सी. (2005). महिलाओं के स्वास्थ्य और घरेलू हिंसा पर विश्व स्वास्थ्य संगठन बहु–देशीय अध्ययन विश्व स्वास्थ्य संगठन प्रेस।
8. हीसे, एल. (2011). सहभागी हिंसा को रोकने के लिए क्या कार्य करता है? लांसेट, 378(9803), 2160–2172।
9. बत्रा, एस. (2013). निर्भया कांड के बाद शहरी क्षेत्रों में महिलाओं के विरुद्ध हिंसा. इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, 48(33), 25–28।
10. विसारिया, एल. (2008). भारत में महिलाओं के विरुद्ध हिंसारू क्या सशक्तिकरण समाधान है? इंडियन जर्नल ऑफ जेंडर स्टडीज, 15(2), 207–230।
11. कृष्णन, एस. (2005). लिंग आधारित हिंसा और भारत में महिलाओं का स्वास्थ्य. जर्नल ऑफ फैमिली वायलेंस, 20(3), 163–170।

शिलालेखों के आलोक में मौर्य कालीन प्रशासन की सीमांत नीति और विदेशी संबंध

मोहम्मद खुर्शीद*
डॉ. मो. वाकिफ**

शोध सारांशः–

मौर्य काल भारतीय इतिहास का वह निर्णायक चरण है जिसमें पहली बार एक सुदृढ़, केन्द्रीकृत और व्यापक साम्राज्य की स्थापना हुई थी। चन्द्रगुप्त मौर्य से लेकर अशोक तक के मौर्य शासकों ने सीमांत नीति और विदेशी संबंधों को सुनियोजित ढंग से विकसित किया। प्रस्तुत शोध पत्र अभिलेखीय साक्ष्यों (मुख्यतः अशोक कालीन शिलालेखों) के आलोक में मौर्य कालीन सीमांत नीति और विदेशी संबंधों का विश्लेषण करता है। इसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि मौर्य प्रशासन की सीमांत नीति केवल सैन्य विस्तार तक सीमित नहीं थी, बल्कि उसमें प्रशासनिक संगठन, सांस्कृतिक समन्वय, नैतिक शासन (धम्म) तथा अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीति के तत्व निहित थे। अशोक के अभिलेखों में उल्लिखित ग्रीको–रोमन हेल्लेनिस्टिक शासकों के साथ संबंध मौर्य साम्राज्य की वैश्विक उपस्थिति को रेखांकित करते हैं। इस अध्ययन का उद्देश्य अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर सीमांत नीति की प्रकृति, उद्देश्यों और ऐतिहासिक महत्व का सम्यक विश्लेषण प्रस्तुत करना है।

शब्द कुंजीः– सीमांत नीति, विदेशी संबंध, शिलालेख, धम्म, कूटनीति, प्रशासन, हेल्लेनिस्टिक राज्य

प्रस्तावनाः–

चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा स्थापित मौर्य साम्राज्य (लगभग 322 ई॰पू॰– 185 ई॰पू॰) अशोक के शासनकाल में अपने चरम पर पहुंचा। सम्राट अशोक के शासनकाल में यह प्राचीन दक्षिण एशिया का सबसे विशाल राज्य था, जो हिन्दूकुश से दक्कन तक फैला हुआ था। यद्यपि कौटिल्य कृत अर्थशास्त्र एवं मेगस्थनीज की 'इंडिका' के विवरणों से तत्कालीन प्रशासन की महत्वपूर्ण सूचना मिलती है तथापि अशोक के शिलालेख, स्तम्भ लेख एवं लघु शिलालेख सर्वाधिक प्रत्यक्ष एवं प्रमाणिक जानकारी प्रदान करते हैं। अशोक के ये अभिलेख प्राकृत, खरोष्ठी, यूनानी एवं आरमाइक भाषाओं में उत्कीर्ण हैं।[1] ये अभिलेख, जिनकी संख्या लगभग 40 है,[2] अफगानिस्तान से कर्नाटक तक व्यापार मार्गों, सीमांत क्षेत्रों एवं नगरों में मिले हैं।

प्रस्तुत शोध पत्र अशोकीय शिलालेखों के आधार पर मौर्य कालीन सीमांत नीति (सीमावर्ती क्षेत्रों एवं जनजातियों के प्रति दृष्टिकोण) तथा विदेशी संबंधों (पड़ोसी एवं दूरस्थ राष्ट्रों के साथ संबंध) का अध्ययन करता है। 261 ई॰ पू॰ का कलिंग युद्ध एक निर्णायक मोड़ था जिसके उपरान्त सम्राट अशोक ने सैन्य विजय का त्याग कर 'धम्म विजय' को अपनाया था। अशोक के अभिलेखीय अध्ययन से ज्ञात होता है कि उसकी नीतियां साम्राज्य के अति विस्तार से उत्पन्न चुनौतियों का व्यवहारिक समाधान थीं। इसमें 'धम्म' को एकीकरण एवं अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना का साधन बनाया गया। अशोक की यह नीति न केवल सीमांत जनजातियों को साम्राज्य में एकीकृत करती थीं, बल्कि ग्रीक और रोमन हेल्लेनिस्टिक राज्यों के साथ व्यापार एवं सांस्कृतिक आदान–प्रदान को भी बढ़ावा देती थी।

शोध विस्तारः–

मौर्य साम्राज्य का विस्तार उत्तर पश्चिम में आधुनिक अफगानिस्तान, पूर्व में बंगाल, दक्षिण में कर्नाटक तथा पश्चिम में सौराष्ट्र तक विस्तृत था।[3] इतने विस्तृत भू–भाग के संचालन के लिये सीमांत नीति का सुव्यवस्थित होना अनिवार्य था। अशोक के शिलालेखों में जिन सीमांत क्षेत्रों और राज्यों का पता चलता है उनमें प्रमुख थे– उत्तर–पश्चिम में यूनानी शासक (यवन), कंबोज, गंधार और दक्षिण में चोल, पांड्य, सत्यपुत्र, केरलपुत्र एवं ताम्रपर्णी (श्री लंका)। इन सीमांत क्षेत्रों का उल्लेख अशोक के द्वितीय एवं तेरहवें शिलालेखों में मिलता है। गिरनार शिलालेख (द्वितीय शिलालेख) में वर्णित है कि 'देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा (अशेक)

* शोध छात्र, प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, नेहरू ग्राम भारती (मानित विश्वविद्यालय), जमुनीपुर कोटवा, प्रयागराज (उत्तर प्रदेश)

** शोध निर्देशक, प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, नेहरू ग्राम भारती (मानित विश्वविद्यालय), जमुनीपुर कोटवा, प्रयागराज (उत्तर प्रदेश)

के राज्य में सभी जगह और जो सीमावर्ती राज्य हैं जैसे चोल, पांड्य, सतियपुत्र (सत्यपुत्र) केरल पुत्र, ताम्रपर्णी तक और यवनराज अंतियोक और जो अंतियोक के भी पड़ोसी राजा हैं उन सब के राज्यों तक देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने दो प्रकार की चिकित्सा का प्रबन्ध किया है– मनुष्यों की चिकित्सा और पशुओं की चिकित्सा। औषधियों भी जहां–जहां नहीं थीं वहां–वहां मंगवायी गई और उनकी खेती की भी व्यवस्था की गई थी। इन सीमांत क्षेत्रों में मूल और फल भी जहां–जहां नहीं थे वहां–वहां सब जगह मंगवाये गये और रोपवाये गये। मार्गों पर पशुओं एवं मनुष्यों दोनों के आराम के लिये कुएं खुदवाये गये और वृक्षारोपण किया गया।[4] परमेश्वरी लाल गुप्त के विचार में द्वितीय शिलालेख में वर्णित चोल का तंजुरू–तिरूचिरापल्ली प्रदेश, पाण्ड्य का रामनाथ पुरम्–मदुरै–तिरूनवेली क्षेत्र और सतियपुत्र का क्रमशः उत्तरी और दक्षिणी मलयालम भाषी भूमि से तात्पर्य था। वहीं ताम्रपर्णी का संबंध संभवतः सिंहल से है, हालांकि ताम्रपर्णी दक्षिण की एक नदी का नाम भी है।[5] जिस प्रकार से अशोक ने अपने दक्षिण सीमावर्ती राज्यों का उल्लेख किया है उस तरह का कोई उल्लेख पूर्वी और उत्तरी सीमा के लिये नहीं किया है। उत्तर में हिमालय के होने के कारण किसी सीमान्त राज्य का उल्लेख नहीं किया जाना समझा जा सकता है किन्तु पूर्व में बंगाल और उनके आगे किसी भी सीमान्त क्षेत्र का नामोल्लेख अशोक के इस अभिलेख में नहीं होना विचारणीय है। अशोक के अभिलेख में यवन राज अंतियोक का उल्लेख उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त पर किया गया है। परमेश्वरी लाल गुप्त के अनुसार 'यह संभवतः सीरियाई शासक अंतियोक (द्वितीय) था।[6] संभवतः यह सिकन्दर के सुप्रसिद्ध सेनापति सेल्यूकस निकेटर का पौत्र था। दक्षिण के राजाओं चोल, पाण्ड्य और ताम्रपर्णी का उल्लेख 13 वें शिलालेख में भी हुआ है। इस अभिलेख के अनुसार– 'देवताओं का प्रिय (अशोक) धर्म विजय को ही सबसे बड़ी विजय मानता है। उसने अपने राज्य और सभी सीमांतवासियों में छह सौ योजन दूर तक (यवन शासक) और उसी प्रकार अपने राज्य के नीचे चोलो, पाण्ड्य और ताम्रपर्णी तक बार–बार धर्मविजय प्राप्ति की है।[7] अशोक के तेरहवें शिलालेख में अटवी (वनवासी) जन जातियों का उल्लेख भी मिलता है। अभिलेख के विवरण के अनुसार 'देवताओं के प्रिय (अशोक) के राज्य में जितने वनवासी लोग हैं, वह उन्हें भी अपने 'धम्म' विचारों में ढालने का प्रयत्न करता है।'[8]

अशोक ने सीमांत क्षेत्रों के प्रशासन हेतु विशेष अधिकारियों– धम्म महामात्र, राजूक एवं युक्त की नियुक्ति की थी। परमेश्वरी लाल गुप्त के अनुसार 'अशोक ने प्रारंभ में (12वें वर्ष) धर्मानुशासन की देखरेख का उत्तरदायित्व अपने राजकर्मचारियों युक्त, राजूक और प्रादेशिक को सौंपा था परन्तु कालान्तर में उसे लगा कि यह कार्य उसके राजकर्मचारियों के वश का नहीं है अतः उसने 'धर्ममहामात्र' नामक नवीन पद सृजित किया।'[9] पांचवे शिलालेख के अनुसार धर्म महामात्र की नियुक्ति समस्त धार्मिक सम्प्रदायों के धर्माधिष्ठान और धर्म वृद्धि के निमित्त की गई थी। अभिलेख में अशोक कहता है कि 'पहले धर्म महामात्र नहीं होते थे, मैंने अपने राज्याभिषेक के 13 साल बाद इनकी नियुक्ति की।'[10] अभिलेख के अनुसार 'ये धर्ममहामात्र सभी सम्प्रदायों के बीच धर्म की स्थापना और वृद्धि; और यवन, कंबोज, गंधार, राष्ट्रिक, पितिनिक और (मेरे जो भी) अपरांत या पश्चिमी सीमा के लोग (भी) हैं उनमें धर्मरत लोगों के हित व सुख के लिये नियुक्त किये गये हैं।'[11] इन धर्ममहामात्रों की नियुक्ति कमोबेश समाज के हर वर्ग, संप्रदाय के बीच की गई थी।

अशोक का दूसरा एवं तेरहवां शिलालेख उसकी विदेश नीति पर प्रकाश डालते हैं। दूसरे शिलालेख में अशोक ने अपनी साम्राज्यिक सीमाओं के परे किये गये कल्याणकारी कार्यों का भी उल्लेख किया है। अभिलेख की सूचनानुसार उन्होंने यूनानी (सीरियाई) राजा अंतियोक (अंतियोक द्वितीय थीयोस) और उसके पड़ोसी राजाओं के क्षेत्रों में मनुष्यों और पशुओं के लिये चिकित्सा व्यवस्था, औषधीय जड़ी बूटियों का आयात, कुंओं का निर्माण और वृक्षारोपण करवाया गया था।[12] अशोक के विदेशी संबंधों के अध्ययन की दृष्टि से उसका तेरहवां शिलालेख अत्यन्त महत्वपूर्ण है। तेरहवें शिलालेख में अशोक के शासन के 8वें वर्ष कलिंग विजय की चर्चा के क्रम में धर्म विजय के विस्तार के लिये किये गये प्रयासों के सन्दर्भ में विदेशी राज्यों का उल्लेख किया गया है। इसमें अशोक ने पांच विदेशी राजाओं का नामोल्लेख किया है जिनके साथ धर्म विजय हुई थी–

(1) अंतियोक (अंतियोक द्वितीय)– सीरिया का शासक

(2) तुरमय– कदाचित यह मिस्त्र का राजा टालमी (द्वितीय) फिलाडेल्फस है जिसका समय 284–246 ई॰पू॰ माना जाता है।[13]

(3) अन्तिकिन– यह संभवतः मकदूनिया का राजा अन्तिगोनस था जिसका समय 277–239 ई॰पू॰ था।[14]

(4) मक– इसे लोगों ने उत्तरी अफ्रीका स्थित काइनेर के मगस होने का अनुमान किया है जिसका समय 282–258 ई॰पू॰ है।[15]

(5) अलिक सुन्दर– संभवतः इसका अभिप्राय अलेक्जेण्डर से है। इस काल में इस नाम के दो शासक हुए थे। एक एपिरस में जिसका समय 272–355 ईसा पूर्व था तथा दूसरा कोरिन्थ में जो 252–244 ईसा पूर्व के बीच हुआ था।[16]

अशोक ने इन राज्यों में दूत भेजे, धम्म प्रचार किया और शांति स्थापित की। अशोक ने कहा कि इन क्षेत्रों में धर्म विजय से उसे संतोष प्राप्त हुआ क्योंकि इसमें कोई प्रतिहिंसा नहीं थी। अशोक ने अपने धर्म महामात्रों को यहां भी नियुक्त किया जो न केवल धम्म का प्रचार करते थे बल्कि विभिन्न संप्रदायों के बीच सहिष्णुता बढ़ाने और नैतिक व्यवहार को प्रोत्साहित करने का कार्य भी करते थे। अशोक ने विस्तारवादी नीति का परित्याग कर विदेशी राज्यों को अविजित कहा और उन पर कोई सैन्य आक्रमण नहीं किया।

निष्कर्षः–

सम्राट अशोक के शिलालेखीय साक्ष्यों के आलोक में यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मौर्य कालीन प्रशासन की सीमांत नीति सुविचारित, संगठित और बहुआयामी थी। अशोक ने धर्म विजय के माध्यम से सीमांत प्रशासन को नैतिक आधार दिया और विदेशी संबंधों को सांस्कृतिक एवं कूटनीतिक आयाम दिया। अशोक के अभिलेखों में उल्लिखित हेल्लेनिस्टिक शासकों का उल्लेख इस तथ्य को स्वतः प्रमाणित करता है कि मौर्य साम्राज्य की सक्रियता एवं प्रभावशीलता अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर थी। अशोक के शिलालेखों की यह पुरालेखीय विरासत एक तरफ अहिंसा एवं सांस्कृतिक आदान–प्रदान को बढ़ावा देने में साम्राज्य की भूमिका दर्शाती है तो वहीं दूसरी ओर नैतिक राजव्यवस्था की स्थायी शिक्षा भी प्रदान करती है। वस्तुतः मौर्य कालीन सीमांत एवं वैदेशिक नीति प्रशासनिक दक्षता, नैतिक शासन और अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीति का एक आदर्श प्रारूप थी जिससे न केवल भारतीय वरन् अन्तर्राष्ट्रीय जगत भी सीख लेकर अपनी राजव्यवस्था को एक नई दिशा प्रदान कर सकता है।

सन्दर्भ सूचीः–

1. हबीव, इरफान एवं झा, विवेकानन्द, ए पीपुल्स हिस्टरी ऑफ इंडिया खण्ड 5 : मौर्यन इंडिया, तुलिका बुक्स, नई दिल्ली, 2017, पृ॰सं॰ 52
2. तदैव, पृ॰सं॰ 52
3. मुखर्जी, राधाकुमुद, अशोक, मोती लाल बनारसी दास, नई दिल्ली, 2015, पृ॰सं॰ 14
4. तदैव, पृ॰सं॰ 110–111
5. गुप्त परमेश्वरी लाल, प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख खण्ड 1, विश्वद्यिालय प्रकाशन, वाराणसी, 1996, पृ॰सं॰ 16
6. तदैव, पृ॰सं॰ 16
7. मुखर्जी, राधाकुमुद, अशोक, मोती लाल बनारसी दास, नई दिल्ली, 2015, पृ॰सं॰ 139–140
8. तदैव, 138
9. गुप्त परमेश्वरी लाल, प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख खण्ड 1, विश्वद्यिालय प्रकाशन, वाराणसी, 1996, पृ॰सं॰ 22
10. पाण्डेय, राजबली, अशोक के अभिलेख, वाराणसी ज्ञान मण्डल लिमिटेड, 1965, पृ॰सं॰7
11. मुखर्जी, राधाकुमुद, अशोक, मोती लाल बनारसी दास, नई दिल्ली, 2015, पृ॰सं॰ 14
12. तदैव, पृ॰सं॰ 110–112
13. गुप्त परमेश्वरी लाल, प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख खण्ड 1, विश्वद्यिालय प्रकाशन, वाराणसी, 1996, पृ॰सं॰ 38
14. तदैव, पृ॰सं॰38
15. तदैव, पृ॰सं॰ 38
16. तदैव, पृ॰सं॰38

मगध प्रमंडल में किसान आंदोलन का आर्थिक एवं सामाजिक परिप्रेक्ष्य : एक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

बिभा कुमारी*

शोध सार :

प्रस्तुत शोध लेख ''मगध प्रमंडल में किसान आंदोलन का आर्थिक एवं सामाजिक परिप्रेक्ष्य : एक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि'' का अध्ययन है। मगध प्रमंडल भारत के उन क्षेत्रों में से एक रहा है जहाँ कृषि न केवल आजीविका का प्रमुख साधन रही है, बल्कि सामाजिक–आर्थिक संबंधों और शक्ति संरचनाओं का भी आधार बनी है। इस क्षेत्र में किसान आंदोलनों का उदय आकस्मिक न होकर भूमि संबंधी असमानताओं, जमींदारी व्यवस्था की विरासत, कृषि उत्पादन संकट, बाजार आधारित शोषण तथा जाति–आधारित सामाजिक विभाजन का प्रत्यक्ष परिणाम रहा है। प्रस्तुत शोध–लेख में मगध प्रमंडल के किसान आंदोलनों को उनके आर्थिक एवं सामाजिक परिप्रेक्ष्य में ऐतिहासिक दृष्टि से विश्लेषित किया गया है।

अध्ययन में औपनिवेशिक काल से लेकर उत्तर–स्वतंत्रता काल तक के किसान आंदोलनों के विकासक्रम, कारणों और प्रभावों की विवेचना की गई है। शोध यह दर्शाता है कि भूमि स्वामित्व की असमान संरचना, कृषि ऋण एवं मूल्य संकट, तथा राज्य की कृषि नीतियों के अपूर्ण क्रियान्वयन ने किसानों को संगठित प्रतिरोध के लिए प्रेरित किया। साथ ही, सामाजिक दृष्टि से जातिगत वर्चस्व, श्रम शोषण और ग्रामीण सत्ता संरचनाओं ने आंदोलनों को केवल आर्थिक न रहकर सामाजिक न्याय से भी जोड़ दिया।

विशिष्ट शब्द : आदिवासी, संगठित, विरोध, भागीदारी, आंदोलन, सामाजिक, संघर्ष इत्यादि ।

परिचय : भारतीय कृषि व्यवस्था केवल उत्पादन की प्रक्रिया नहीं रही है, बल्कि यह सामाजिक संरचना, आर्थिक संबंधों और राजनीतिक शक्ति संतुलन का भी प्रमुख आधार रही है। भारत के ग्रामीण इतिहास में किसान आंदोलनों का उद्‌भव इन्हीं जटिल अंतर्संबंधों का प्रतिफल रहा है। विशेष रूप से बिहार का मगध प्रमंडल ऐतिहासिक दृष्टि से न केवल प्राचीन सभ्यता और राजनीतिक गतिविधियों का केंद्र रहा है, बल्कि यहाँ कृषि–आधारित समाज में व्याप्त असमानताओं और संघर्षों ने किसान आंदोलनों को एक विशिष्ट स्वरूप प्रदान किया है। मगध क्षेत्र में किसान आंदोलन को समझना वस्तुतः भारतीय ग्रामीण समाज की आर्थिक संरचना और सामाजिक गतिशीलता को समझने का एक महत्वपूर्ण माध्यम है।

औपनिवेशिक काल में लागू की गई भूमि राजस्व प्रणालियोंकृविशेषतः स्थायी बंदोबस्त और जमींदारी व्यवस्था ने मगध प्रमंडल में कृषि संबंधों को गहराई से प्रभावित किया। इन व्यवस्थाओं के अंतर्गत भूमि का स्वामित्व मुट्ठीभर जमींदारों के हाथों में केंद्रित हो गया, जबकि वास्तविक कृषक भूमिहीन या अर्द्ध–स्वामी बनकर रह गए। अत्यधिक लगान, बेगार प्रथा, तथा कृषकों की असुरक्षित स्थिति ने आर्थिक शोषण को संस्थागत रूप प्रदान किया। परिणामस्वरूप किसान केवल उत्पादन करने वाला वर्ग नहीं रह गया, बल्कि सामाजिक और आर्थिक दमन का शिकार समुदाय बन गया।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भी मगध प्रमंडल की कृषि संरचना में अपेक्षित परिवर्तन नहीं आ सका। यद्यपि जमींदारी उन्मूलन जैसे सुधारात्मक प्रयास किए गए, किंतु उनका क्रियान्वयन कमजोर रहा। भूमि का पुनर्वितरण, बटाईदारों के अधिकार, और छोटे एवं सीमांत किसानों की सुरक्षा जैसे मुद्दे व्यवहारिक स्तर पर अधूरे रह गए। इसके साथ ही हरित क्रांति जैसी नीतियों का लाभ इस क्षेत्र के अधिकांश किसानों तक नहीं पहुँच पाया, जिससे क्षेत्रीय और वर्गीय असमानताएँ और अधिक गहरी हो गईं।

आर्थिक कारकों के साथ–साथ सामाजिक संरचना ने भी किसान आंदोलनों को निर्णायक रूप से प्रभावित किया। मगध प्रमंडल की ग्रामीण समाज व्यवस्था जाति–आधारित पदानुक्रम से संचालित रही है, जहाँ उच्च जातियों का भूमि और संसाधनों पर वर्चस्व तथा निम्न एवं दलित जातियों की श्रम–आधारित निर्भरता स्पष्ट दिखाई देती है। इस सामाजिक विभाजन ने कृषि संबंधों को असमान और संघर्षपूर्ण बनाया।[1] फलस्वरूप

* शोध छात्रा, इतिहास विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया
Mob. : 7033569674

किसान आंदोलन केवल आर्थिक मांगों तक सीमित न रहकर सामाजिक सम्मान, अधिकार और समानता की माँगों से भी जुड़ते चले गए।

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मगध प्रमंडल में किसान आंदोलनों ने अधिक संगठित और राजनीतिक स्वरूप ग्रहण किया। किसान यूनियनों, वामपंथी संगठनों तथा स्थानीय सामाजिक आंदोलनों ने भूमि अधिकार, न्यूनतम समर्थन मूल्य, ऋण माफी और श्रम सम्मान जैसे मुद्दों को लेकर व्यापक जन–आंदोलन खड़े किए। इन आंदोलनों ने ग्रामीण सत्ता संरचनाओं को चुनौती दी और राज्य को कृषि नीतियों पर पुनर्विचार के लिए बाध्य किया। हालांकि, आंदोलनों के प्रभाव सीमित रहे, फिर भी उन्होंने ग्रामीण समाज में जागरूकता, संगठन और प्रतिरोध की संस्कृति को सुदृढ़ किया।

किसान आंदोलन के कारण

भूमि सम्बन्धी असमानताएँ

- भूमि स्वामित्व में असमानता : बड़े जमींदारों के पास अधिक भूमि, छोटे कृषकों के पास अल्प एवं अल्प–उपजाऊ भूमि।
- जमींदारी तथा अंत्येष्टि व्यवस्था की छाया : किसान अपनी कृषि भूमि पर स्वामित्व का अधिकार खोने का भय रखते थे, जिससे उनकी आर्थिक निवेश क्षमता घटती थी।
- परिणामः भूखपीनाश, ऋण का गढ़ढा, कृषि निवेश में गिरावट।

कृषि उत्पादन और बाजार संकट

- फसलों के दाम में गिरावट, बिचौलियों का अत्यधिक कमीशन, तथा बाजारों तक पहुंच का अभाव।
- फसल बीमा/ऋण सुविधा का अभाव और सरकारी समर्थन नीतियों का कमजोर क्रियान्वयन।
- किसान प्राकृतिक आपदाओं के बाद पुनर्प्राप्त नहीं कर पाते थे, जिससे माँग–आपूर्ति असंतुलन और कर्ज प्रतिदिन बढ़ जाता।

सामाजिक शोषण और सामुदायिक तनाव

- जाति आधारित असमानता ने किसानों के बीच संघर्ष को सामाजिक रंग दियारू
- उच्च जाति जमींदारों के द्वारा मजदूर/छोटे किसानों का दमन
- सामाजिक बहिष्कार, शिक्षा/आर्थिक अवसरों की कमी

प्रस्तुत अध्ययन मगध प्रमंडल में किसान आंदोलनों को केवल घटनाओं के क्रम के रूप में नहीं, बल्कि एक आर्थिक–सामाजिक प्रक्रिया के रूप में विश्लेषित करने का प्रयास करता है। यह शोध यह समझने का प्रयास करता है कि किस प्रकार ऐतिहासिक भूमि संबंध, कृषि अर्थव्यवस्था की संरचना, और सामाजिक असमानताएँ मिलकर किसान आंदोलनों को जन्म देती हैं तथा उन्हें दिशा प्रदान करती हैं।[2] इस दृष्टि से यह अध्ययन भारतीय किसान आंदोलनों के व्यापक विमर्श में मगध प्रमंडल की भूमिका को रेखांकित करता है और ग्रामीण भारत की संरचनात्मक समस्याओं को समझने में सहायक सिद्ध होता है।

साहित्य की समीक्षा

सिंह, सत्यनारायण[3] (2024) ने भारतीय किसान आंदोलनों को नवउदारवादी कृषि नीतियों के संदर्भ में विश्लेषित करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि हालिया किसान आंदोलन केवल आर्थिक असंतोष की अभिव्यक्ति नहीं हैं, बल्कि वे ग्रामीण लोकतंत्र, नीति–निर्माण और राज्य–किसान संबंधों की पुर्नव्याख्या प्रस्तुत करते हैं। लेखक का मानना है कि बिहार जैसे राज्यों में ऐतिहासिक भूमि असमानता ने आंदोलनों को अधिक उग्र और सामाजिक रूप से व्यापक बनाया।

राव, नन्दिनी (2023) ने कृषि संकट और किसान आंदोलनों को 'राज्य बनाम नागरिक' विमर्श के अंतर्गत देखा है। उनका अध्ययन दर्शाता है कि किसान आंदोलन सामाजिक चेतना, सामूहिक पहचान और नीति–विरोध का संगठित माध्यम बन चुके हैं। यह अध्ययन मगध क्षेत्र के संदर्भ में सामाजिक लामबंदी को समझने में सहायक है।

शर्मा, अजय कुमार[4] (2022) ने किसानों के विरोध आंदोलनों को कृषि अर्थव्यवस्था के संरचनात्मक संकट से जोड़ते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि भूमि, ऋण और बाजार–तीनों स्तरों पर असंतुलन किसानों को निरंतर संघर्ष की ओर धकेलता है। यह अध्ययन मगध प्रमंडल की आर्थिक स्थिति से स्पष्ट समानता रखता है।

प्रसाद, राजेन्द्र[5] (2010) ने बिहार की ग्रामीण संरचना का विश्लेषण करते हुए बताया है कि जमींदारी उन्मूलन के बाद भी वास्तविक भूमि सुधार नहीं हो सके। उनके अनुसार, मगध क्षेत्र में किसान आंदोलनों का मुख्य कारण भूमि पर अधिकार और सामाजिक सम्मान की लड़ाई रही है।

बर्धन, प्रभात[6] (2005) ने भारतीय कृषि को राजनीतिक अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से देखा है। वे मानते हैं कि राज्य की नीतियाँ प्रायः बड़े किसानों और बाजार हितों के पक्ष में रहीं, जिससे छोटे और सीमांत किसानों में असंतोष पनपा। यह विश्लेषण मगध प्रमंडल के किसान आंदोलनों के आर्थिक आधार को समझने में उपयोगी है।

झा, पुष्यमित्र[7] (1998) ने बिहार के किसान संघर्षों को वर्ग संघर्ष की संज्ञा दी है। उनका अध्ययन बताता है कि कृषि आंदोलन केवल आर्थिक नहीं, बल्कि सामाजिक वर्चस्व के विरुद्ध प्रतिरोध का रूप भी हैं।

गुहा, रामचंद्र[8] (1997) ने ग्रामीण भारत में सत्ता और वर्चस्व के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए बताया है कि किसान आंदोलनों की जड़ें औपनिवेशिक भूमि नीतियों में निहित हैं। मगध जैसे क्षेत्रों में यह प्रभाव अधिक गहरा दिखाई देता है।

मुखर्जी, राधाकुमुद[9] (1963) ने प्राचीन एवं मध्यकालीन मगध की ग्रामीण व्यवस्था का उल्लेख करते हुए कृषि समाज की निरंतरता और परिवर्तन को रेखांकित किया है, जो क्षेत्रीय ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के अध्ययन में सहायक है।

दत्त, धर्म नारायण[10] (1984) ने बिहार के किसान आंदोलनों का ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत किया है। उन्होंने नील विद्रोह, लगान विरोध और बटाईदार संघर्षों को आधुनिक किसान आंदोलनों की आधारशिला माना है।

उपलब्ध साहित्य से यह स्पष्ट होता है कि किसान आंदोलनों पर अधिकांश अध्ययन या तो राष्ट्रीय स्तर पर केंद्रित हैं या बिहार को समग्र रूप में देखते हैं। मगध प्रमंडल को एक पृथक आर्थिक–सामाजिक इकाई के रूप में केंद्र में रखकर किया गया अध्ययन अत्यंत सीमित है। विशेष रूप से भूमि संरचना, जातिगत सामाजिक व्यवस्था और स्थानीय कृषि अर्थव्यवस्था के संयुक्त प्रभाव पर पर्याप्त शोध नहीं हुआ है।

उद्देश्य :–

1. मगध प्रमंडल में किसान आंदोलनों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं विकासक्रम का विश्लेषण करना।
2. मगध प्रमंडल की कृषि अर्थव्यवस्था की संरचना (भूमि स्वामित्व, उत्पादन प्रणाली, ऋण व्यवस्था एवं बाजार संबंध) का अध्ययन करना।
3. किसान आंदोलनों के उद्भव में आर्थिक कारकोंकृजैसे भूमि असमानता, कृषि संकट, फसल मूल्य एवं ऋण की भूमिका का मूल्यांकन करना।
4. मगध प्रमंडल की सामाजिक संरचना, विशेषतः जातिगत व्यवस्था और वर्ग विभाजन, का किसान आंदोलनों पर पड़ने वाले प्रभाव का विश्लेषण करना।
5. स्वतंत्रता–पूर्व एवं स्वतंत्रता–उत्तर काल में किसान आंदोलनों के स्वरूप, प्रकृति और मांगों में आए परिवर्तनों का तुलनात्मक अध्ययन करना।

परिकल्पनाएँ

1. मगध प्रमंडल में किसान आंदोलनों के उद्भव का प्रमुख कारण भूमि स्वामित्व की असमान संरचना और कृषि आधारित आर्थिक शोषण रहा है।
2. जमींदारी व्यवस्था की विरासत और भूमि सुधारों के अपूर्ण क्रियान्वयन ने किसान असंतोष को निरंतर बनाए रखा है।
3. किसान आंदोलनों का स्वरूप केवल आर्थिक न होकर सामाजिक न्याय एवं सम्मान की मांगों से भी गहराई से जुड़ा हुआ है।
4. जातिगत असमानता और सामाजिक वर्चस्व ने मगध प्रमंडल में किसान आंदोलनों को अधिक उग्र और संघर्षशील स्वरूप प्रदान किया है।
5. स्वतंत्रता के बाद भी कृषि नीतियों और सरकारी हस्तक्षेपों की सीमाओं के कारण किसान आंदोलनों की प्रासंगिकता बनी रही है।

निष्कर्ष: निष्कर्षतः शोध यह प्रतिपादित करता है कि मगध प्रमंडल के किसान आंदोलन भारतीय ग्रामीण समाज में आर्थिक असमानता और सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को समझने की एक महत्वपूर्ण कड़ी हैं। ये

आंदोलन न केवल किसानों की समस्याओं की अभिव्यक्ति थे, बल्कि ग्रामीण चेतना, संगठनात्मक शक्ति और लोकतांत्रिक दबाव की भी सशक्त मिसाल प्रस्तुत करते हैं।

मगध प्रमंडल में किसान आंदोलन केवल "न्यून फसल मूल्य" या "कर्ज माफी" की एकल मांग नहीं थेय यह गहराई से संरचित आर्थिक असमानता, भूमि अधिकारों के विवाद, सामाजिक व्यवस्था की विभेदकारी संरचनाओं और राज्य–नियमों के प्रभावहीन क्रियान्वयन के परिणामस्वरूप उभरते व्यापक ग्रामीण संघर्ष का प्रतिनिधित्व करते हैं।

इन आंदोलनों ने किसानों को संगठन, अधिकारों के प्रति जागरूकता, तथा सामूहिक प्रतिरोध की शक्ति दी, लेकिन स्थायी आर्थिक सुधार और सामाजिक समानता के लिए और गहरा, समन्वित तथा दीर्घकालिक नीति–गत प्रयास आवश्यक है।

संदर्भ सूची

1. सरकार, बिहार (विभिन्न वर्ष) बिहार आर्थिक सर्वेक्षण, पटना, वित्त विभाग, बिहार सरकार।
2. बिहार राज्य किसान आयोग (विभिन्न रिपोर्ट) किसानों की स्थिति पर अध्ययन रिपोर्ट, पटना।
3. सिंह, सत्यनारायण (2019) भारतीय किसान आंदोलनः इतिहास और समकालीन परिप्रेक्ष्य, नई दिल्ली, पीएचआई लर्निंग (हिंदी संस्करण)।
4. शर्मा, अजय कुमार (2022), भारतीय कृषि संकट और किसान आंदोलन, जयपुर, रावत पब्लिकेशंस।
5. प्रसाद, राजेन्द्र (2010), बिहार में भूमि सुधार और किसान आंदोलन, पटना, ज्ञानदीप प्रकाशन।
6. बर्धन, प्रभात (2008), भारतीय कृषि का राजनीतिक अर्थशास्त्र, नई दिल्ली, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस (हिंदी अनुवाद संस्करण)।
7. झा, पुष्यमित्र (1998), बिहार का ग्रामीण समाज और किसान संघर्ष, पटना, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी।
8. गुहा, रामचंद्र (2014) आधिपत्य के बिना प्रभुत्व : ग्रामीण भारत में इतिहास और सत्ता, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन।
9. मुखर्जी, राधाकुमुद (1963), प्राचीन भारत की आर्थिक स्थिति, वाराणसी, चौखम्बा विद्याभवन।
10. दत्त, धर्म नारायण (1984), भारत में किसान आंदोलन, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन।

ଓଃଃ

लोक–संस्कृति और मनोविज्ञान : उत्तर प्रदेश के चित्रकारों की कृतियों का व्यापक विश्लेषण

चन्दा यादव*

सारांश

यह शोध लेख उत्तर प्रदेश की चित्रकला भारतीय कला इतिहास के संदर्भ में लोक संस्कृति और मनोविज्ञान के मध्य आपसी संबंधों का एक गहन अंतर्सम्बन्ध प्रस्तुत करता है। इस अध्ययन का उद्देश्य यह समझना है कि क्षेत्रीय लोक जीवन, धार्मिक विश्वास, सामाजिक ढांचे, त्योहारों की परंपराएं और ऐतिहासिक हालात कलाकारों की सोच, भावनात्मक अभिव्यक्ति और रंगों के प्रतीक पर कैसे प्रभाव डालते हैं। मुगल और अवध दरबार की संस्कृति से लेकर ब्रज की कृष्ण–भक्ति परंपरा और काशी की आध्यात्मिक चित्रकला परंपरा तक, हर कला परंपरा में लोक चेतना और सामूहिक अवचेतन के तत्व स्पष्ट तौर पर दिखते हैं। रंगों, रूपों और प्रतीक के ज़रिए, कलाकार न सिर्फ सौन्दर्य निर्मित करते हैं बल्कि सामाजिक यादें, सांस्कृतिक पहचान, आध्यात्मिक अनुभव और मनोवैज्ञानिक अन्तर्द्वन्द्व भी दिखाते हैं। आज के समय में, यह रिश्ता और भी जटिल और व्यक्तिपरक हो गया है, जहाँ पारंपरिक प्रतीक को सामाजिक बदलाव, शहरी तनाव, सांस्कृतिक बदलाव और निजी अंदरूनी अन्तर्द्वन्द्व के संदर्भ में फिर से समझा जा रहा है। इस तरह, उत्तर प्रदेश की चित्रकला सिर्फ एक दार्शनिक कला नहीं है, बल्कि लोक संस्कृति, सामूहिक मानस और मनोवैज्ञानिक ढांचों का एक जीता–जागता दस्तावेज साबित होती है, जो अतीत और आज के बीच निरंतर संवाद स्थापित करती है।

की–वर्ड– लोक–संस्कृति, सामूहिक चेतना, मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति, रंग–प्रतीक, सांस्कृतिक पहचान, भाव–मनःस्थिति, परंपरा और आधुनिकता, आध्यात्मिक अनुभव, कलात्मक संवेदनशीलता।

प्रस्तावना

लोक संस्कृति और मनोविज्ञान के बीच का संबंध भारतीय कला परंपरा में गहराई से निहित रहा है और यह संबंध विशेष रूप से उत्तर प्रदेश के चित्रों में स्पष्ट रूप से व्यक्त होता है। इतिहास, धर्म और संस्कृति से समृद्ध क्षेत्र उत्तर प्रदेश में, इसके चित्र लोक जीवन, विश्वासों, मिथकों, त्योहारों, सामाजिक संरचनाओं और सामूहिक स्मृतियों की एक विस्तृत श्रृंखला को दर्शाते हैं। कलाकार न केवल दृश्य रूप बनाते हैं बल्कि अपने समय, समाज और व्यक्तिगत मानस की रचनात्मक व्याख्या भी प्रस्तुत करते हैं।[1]

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से, चित्रकला कलाकार के आंतरिक स्व, अवचेतन प्रवृत्तियों, दमित इच्छाओं, सांस्कृतिक कंडीशनिंग और सामूहिक चेतना का प्रतिबिंब है, जैसा कि सामूहिक अचेतन के सिद्धांत में प्रतिपादित किया गया है। उत्तर प्रदेश के चित्रों में लोक संस्कृति के विभिन्न आयामों– जैसे ग्रामीण जीवन, धार्मिक अनुष्ठान, मौसमी त्योहार, विवाह समारोह, लोक देवताओं की पूजा और क्षेत्रीय मिथकों को रंगों, प्रतीकों और रूपों के माध्यम से व्यक्त किया गया है।[2] ब्रज की भक्ति परंपरा, अवध की दरबारी सौंदर्य दृष्टि, काशी की आध्यात्मिक चेतना और बुंदेलखंड की वीर परंपरा– इन सभी ने कलाकारों के मानस को एक विशिष्ट दिशा दी है, जिससे उनकी कृतियां महज सौंदर्यपरक ही नहीं बल्कि भावनात्मक, सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक दस्तावेज भी बन जाती हैं। आधुनिक समय में सामाजिक परिवर्तन, शहरीकरण, औद्योगीकरण और वैश्वीकरण के प्रभाव ने कलाकारों के मानस में नए तरह के तनाव, अस्मिता की भावना और प्रयोगशीलता को जन्म दिया है, जिसका प्रभाव उनके चित्रों में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।[3] इस प्रकार उत्तर प्रदेश के चित्रकारों की कृतियां लोक संस्कृति और मनोविज्ञान के बीच अंतर्संबंधों को समझने का एक सशक्त माध्यम प्रदान करती हैं, जहाँ कला महज दृश्य अभिव्यक्ति न होकर सामाजिक–सांस्कृतिक चेतना और मानव मन की जटिल संरचनाओं का रचनात्मक रूपांतर बन जाती है।

सांस्कृतिक चेतना और मानसिक संरचना का अंतर्सम्बन्ध

उत्तर प्रदेश की पेंटिंग भारतीय कला इतिहास में एक बहुआयामी परंपरा के तौर पर स्थापित है, जहाँ लोक संस्कृति और मनोविज्ञान आपस में गहराई से जुड़े हुए हैं। यह क्षेत्र ऐतिहासिक, धार्मिक और सांस्कृतिक

*शोध छात्रा, ललित कला एवं संगीत विभाग, दीनदयाल उपाध्याय, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

रूप से समृद्ध रहा है–ब्रज की भक्ति परंपरा, अवध की दरबारी संस्कृति, काशी की आध्यात्मिक चेतना और बुंदेलखंड की लोक परंपराएँ–इन सभी ने इसकी पेंटिंग को एक खास पहचान दी है। लोक संस्कृति सिर्फ़ पारंपरिक रीति–रिवाजों और त्योहारों का संग्रह नहीं है, बल्कि सामूहिक यादों, सामाजिक अनुभवों और सांस्कृतिक मूल्यों का जीता–जागता उदाहरण है। इस सांस्कृतिक माहौल से प्रेरणा लेकर, कलाकार रंगों और प्रतीकों के ज़रिए अपने समय और समाज की मानसिक बनावट को दिखाता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, कला को मानव के मन की सबसे गहरी भावनाओं और अवचेतन मन की अभिव्यक्ति माना जाता है। सिगमंड फ्रायड ने कला को दमित इच्छाओं और भावनात्मक तनावों की रचनात्मक अभिव्यक्ति कहा, जबकि कार्ल गुस्ताव जंग इसे ''सामूहिक अवचेतन'' में निहित आदर्शों का दृश्य अवतार मानते थे।[4] उत्तर प्रदेश के चित्रों में देवी–देवताओं, लोक नायकों, ग्रामीण जीवन और आध्यात्मिक प्रतीकों का बार–बार चित्रण इस सामूहिक अवचेतन की पुष्टि करता है।

2. लोक–संस्कृति : सामाजिक संरचना और भावात्मक अभिव्यक्ति

(क) ब्रज क्षेत्र : भक्ति, प्रेम और सामूहिक चेतना

मथुरा और वृंदावन की पेंटिंग परंपराओं में दिखाई देने वाली लोक भक्ति और प्रेम की मनोवैज्ञानिक गहराई सिर्फ़ धार्मिक आस्था का नतीजा नहीं है, बल्कि यह सामूहिक सांस्कृतिक अनुभवों की एक लंबी परंपरा का रचनात्मक बदलाव है। ब्रजभूमि की कला में, रासलीला, झूलन, होली और वसंतोत्सव जैसे सीन इमोशनल इंटेंसिटी, चंचल रंगों के संयोजन और लाइनों की लयबद्ध डाइनैमिज़्म के ज़रिए दिखाए जाते हैं, जिससे देखने वाला न सिर्फ़ सीन को देख पाता है बल्कि उसमें हिस्सा भी ले पाता है। राधा और कृष्ण के प्रेम को सांसारिक और पारलौकिक, दोनों लेवल पर दिखाया गया है, जहाँ इंसानी प्यार, जुदाई, मिलन और भक्ति आध्यात्मिक ऊँचाइयों में बदल जाते हैं। चटक लाल, गहरे नीले, चमकीले पीले और हरे रंगों का इस्तेमाल सामूहिक खुशी, एनर्जी और दिव्यता का माहौल बनाता है, जबकि किरदारों की एक्सप्रेसिव आँखें और कोमल मुद्राएँ गहरी भावनाओं को ज़िंदा कर देती हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से, यह कला प्रेम के आदर्श, ईश्वर के लिए तड़प और सामूहिक अवचेतना में निहित आत्म–समर्पण की भावनाओं को व्यक्त करती है, जिससे भक्त और देवता के बीच की दूरी मिट जाती है। इस प्रकार, ब्रज चित्रकला लोक संस्कृति, सामूहिक मानस और भक्ति भावना के एक अद्वितीय संश्लेषण का उदाहरण है, जहाँ कला आध्यात्मिक बोध और भावनात्मक पूर्ति का माध्यम बन जाती है।[5]

(ख) अवध : दरबारी सौंदर्य और सामाजिक मनोविज्ञान

लखनऊ के अवध स्टाइल में दरबारी कल्चर और लोक भावनाओं का शानदार मेल उत्तर भारत की सांस्कृतिक परिपक्वता और खूबसूरती की सोच का एक बेहतरीन उदाहरण है। नवाबी दौर में, लखनऊ न सिर्फ़ राजनीतिक ताकत का केंद्र था, बल्कि संगीत, नृत्य, कविता और ललित कलाओं का भी एक बड़ा केंद्र था, यह भूमिका इसकी पेंटिंग्स में साफ़ तौर पर दिखाई देती है। दरबार, संगीत की महफ़िलें (महफ़िलें), मुशायरे (मुशायरे), कविता पाठ और कथक नृत्य जैसे विषयों को पेंटिंग्स में बहुत अच्छे से दिखाया गया, रंगों

का नाजुक मेल और संतुलित बनावट के साथ दिखाया गया। हल्के गुलाबी, फ़िरोज़ी, आसमानी, सुनहरे और बेज रंगों का इस्तेमाल भावनात्मक कोमलता, खूबसूरती और लग्ज़री का माहौल बनाता है, जबकि किरदारों के नाजुक हाव–भाव, झुकी हुई निगाहें और कोमल चेहरे उस समय की मनोवैज्ञानिक संवेदनशीलता को दिखाते हैं। ये पेंटिंग्स, शान और शान के साथ, एक खास भावुकता, सुंदरता के प्रति लगाव और सांस्कृतिक शान भी दिखाती हैं, जो नवाबी समाज की सोच को दिखाती हैं। साइकोलॉजिकल नज़रिए से देखें तो अवध पेंटिंग स्टाइल में सामाजिक इज़्ज़त, खुद को ज़ाहिर करने, सांस्कृतिक शान और इमोशनल उम्मीदों का मिला–जुला रूप दिखता है। यह कला न सिर्फ़ दरबार की शान दिखाती है, बल्कि उस ज़माने की सेंसिटिव सामाजिक बनावट, खूबसूरती और अंदरूनी नज़रिए को भी साफ़–साफ़ दिखाती है। इस तरह, लखनऊ अवध स्टाइल दरबारी शान और आम लोगों की सोच के बीच एक बैलेंस्ड बातचीत बनाती है, जो उस समय की सामाजिक सोच और सांस्कृतिक इज़्ज़त का आईना बन जाती है।[6]

(ग) काशी : आध्यात्मिकता और अस्तित्व–बोध

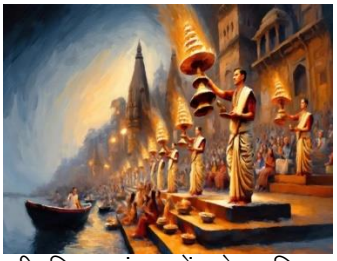

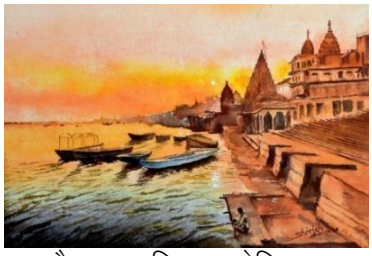

वाराणसी की चित्र परंपरा में लोक–विश्वास, धार्मिक आस्था और आध्यात्मिक मनोविज्ञान का गहन समन्वय दृष्टिगोचर होता है, जो इस नगर की सांस्कृतिक आत्मा को दृश्य रूप प्रदान करता है। काशी के घाटों, गंगा आरती, साधु–संतों की साधना, शव–दाह संस्कार तथा प्रवाहित गंगा के चित्र केवल दृश्य घटनाओं का अंकन नहीं हैं, बल्कि वे जीवन और मृत्यु, सांसारिकता और मोक्ष, क्षणभंगुरता और अनंतता जैसे दार्शनिक प्रश्नों का प्रतीकात्मक रूपांतरण प्रस्तुत करते हैं। चित्रों में स्वर्णिम और केसरिया रंगों का प्रयोग आध्यात्मिक जागरण, तप, त्याग और दिव्य चेतना का बोध कराता है, वहीं गहरे नीले, बैंगनी और धूसर रंग अस्तित्व की रहस्यमयता, आत्ममंथन और ब्रह्मांडीय गहराई का संकेत देते हैं। संध्या आरती के दृश्यों में दीपों की स्वर्णिम आभा और आकाश के गहन नीले रंग का संयोजन मानव–मन की उस स्थिति को व्यक्त करता है, जहाँ भौतिक और आध्यात्मिक जगत का संगम होता है। घाटों के सीढ़ीनुमा विस्तार और बहती गंगा की रेखाएँ समय के प्रवाह तथा जीवन की अनवरत गति का प्रतीक बन जाती हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह कला मानव–मन की आध्यात्मिक खोज, आत्मशुद्धि की आकांक्षा और मृत्यु के पार किसी शाश्वत सत्य की तलाश को प्रतिबिंबित करती है। वाराणसी की चित्रकला में लोक–आस्था और दार्शनिक चिंतन का यह समन्वय कला को केवल सौंदर्यपरक अनुभव तक सीमित नहीं रखता, बल्कि उसे आत्मानुभूति और आध्यात्मिक संवाद का माध्यम बना देता है, जहाँ दर्शक स्वयं भी अपने अस्तित्व के गहन प्रश्नों से साक्षात्कार करता है।[7]

3. मनोवैज्ञानिक सिद्धांत और कलात्मक संरचना

फ्रायड के मनोविश्लेषण सिद्धांत के अनुसार कला दबी हुई इच्छाओं का प्रतीकात्मक विसर्जन है।[8] उत्तर प्रदेश की चित्रकला में प्रेम, विरह, भक्ति और उत्सव के दृश्य मानवीय भावनाओं के इस विसर्जन का सशक्त उदाहरण हैं। युंग के 'आद्य–प्रतीक' सिद्धांत के अनुसार देवी–देवताओं और पौराणिक कथाओं के रूपक सामूहिक अवचेतन की अभिव्यक्ति हैं। चित्रों में रंग, रेखा और संरचना केवल सौंदर्यात्मक साधन नहीं, बल्कि भाव–प्रक्षेपण के उपकरण हैं। उज्ज्वल रंग सामूहिक उल्लास और आशा को व्यक्त करते हैं, जबकि गहरे और संयत रंग आत्मचिंतन और आध्यात्मिक गंभीरता का संकेत देते हैं। इस प्रकार चित्रकला कलाकार और दर्शक के बीच भावात्मक संवाद स्थापित करती है।[9]

4. आधुनिक परिप्रेक्ष्य : लोक–संस्कृति का पुनर्सृजन

समकालीन उत्तर प्रदेश के चित्रकार लोक–संस्कृति को आधुनिक सामाजिक संदर्भों में पुनर्परिभाषित कर रहे हैं। शहरीकरण, वैश्वीकरण और तकनीकी विकास ने पारंपरिक जीवन–शैली को प्रभावित किया है, जिसका प्रभाव कला में भी दिखाई देता है। आधुनिक चित्रों में पारंपरिक प्रतीकों के साथ सामाजिक असमानता, पर्यावरणीय संकट और पहचान का संघर्ष भी चित्रित होता है।

लखनऊ और वाराणसी के समकालीन कलाकार अमूर्त शैली में गहरे काले, लाल और धूसर रंगों का प्रयोग कर मानसिक तनाव और सामाजिक विडंबना को व्यक्त करते हैं। यह प्रवृत्ति दर्शाती है कि लोक–संस्कृति स्थिर नहीं, बल्कि समय के साथ परिवर्तित होने वाली जीवंत प्रक्रिया है।[10]

5. सांस्कृतिक पहचान और सामूहिक स्मृति

उत्तर प्रदेश की चित्रकला में लोक–संस्कृति सांस्कृतिक पहचान का आधार है। चित्रों में प्रयुक्त प्रतीककृजैसे गंगा, मंदिर, ग्रामीण जीवन, लोक–नृत्यकृदर्शकों में सांस्कृतिक आत्मबोध और ऐतिहासिक निरंतरता की अनुभूति उत्पन्न करते हैं। कला इस प्रकार सामाजिक एकता और मानसिक संतुलन का माध्यम बनती है।

लोक–संस्कृति और मनोविज्ञान का यह अंतर्संबंध कला को जीवंत, संवादात्मक और युगानुकूल बनाए रखता है।

निष्कर्ष

उत्तर प्रदेश के चित्रकारों की कृतियाँ लोक–संस्कृति और मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति का गहन समन्वय प्रस्तुत करती हैं। ब्रज की भक्ति–प्रधान संवेदना, अवध की दरबारी सौंदर्यप्रियता और काशी की आध्यात्मिक चेतनाकृइन सभी में कलाकार ने सामाजिक अनुभव और मानवीय मनोविज्ञान को रंगों और प्रतीकों के माध्यम से सशक्त रूप में व्यक्त किया है।

अतः यह कहा जा सकता है कि उत्तर प्रदेश की चित्रकला केवल दृश्य कला नहीं, बल्कि सामूहिक स्मृति, सांस्कृतिक पहचान और मानसिक अनुभवों का सजीव दस्तावेज है, जो समय के साथ निरंतर विकसित होता हुआ कला को नई अर्थवत्ता प्रदान करता है।

संदर्भ–ग्रन्थ

1. कुमार, नीलिमा (2015). भारतीय लोक–संस्कृति और कला. नई दिल्लीः राधा पब्लिकेशन।
2. शर्मा, रमेशचंद्र (2012). उत्तर प्रदेश की चित्रकला परंपरा. लखनऊः उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान।
3. सिंह, अजय (2019). आधुनिक भारतीय चित्रकलाः परंपरा और परिवर्तन. नई दिल्लीः राजकमल प्रकाशन।
4. Jung, C. G. (1968). *The Archetypes and the Collective Unconscious*. Princeton University Press.
5. Archer, W. G. (1973). *Indian Paintings from the Punjab Hills*. Sotheby Parke Bernet.
6. रमेशचंद्र (2012). उत्तर प्रदेश की चित्रकला परंपरा. लखनऊः उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान।
7. अग्रवाल, वासुदेव शरण (1998). भारतीय कला का इतिहास. वाराणसीः चौखंबा विद्याभवन, शर्मा
8. Freud, Sigmund (1953). *The Interpretation of Dreams*. London: Hogarth Press.
9. Coomaraswamy, A. K. (1918). *The Dance of Shiva*. Noonday Press, New York.
10. Chakravarty, Anjan. (1997). *Indian Miniature Painting*. Lustre Press, New Delhi.

वर्तमान समय में स्त्री–विमर्श की प्रासंगिकता

डॉ. ज्योति गौतम*

सारांश

स्त्री-विमर्श आधुनिक साहित्यिक एवं सामाजिक चिंतन की एक महत्वपूर्ण धारा है, जिसका उद्देश्य महिलाओं की स्थिति, अधिकारों और सामाजिक भूमिकाओं का विश्लेषण करना है। भारतीय समाज में लंबे समय तक स्त्रियाँ पितृसत्तात्मक व्यवस्था के कारण सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक रूप से वंचित रही हैं। आधुनिक काल में स्त्री-विमर्श ने इन असमानताओं को उजागर करते हुए महिलाओं के अधिकारों, स्वतंत्रता और समानता के प्रश्न को प्रमुखता से उठाया है। वर्तमान समय में स्त्री-विमर्श केवल साहित्यिक विमर्श तक सीमित नहीं है, बल्कि यह सामाजिक परिवर्तन, महिला सशक्तिकरण और लैंगिक समानता की दिशा में एक महत्वपूर्ण विचारधारा बन चुका है। इस शोध-पत्र में वर्तमान समय में स्त्री-विमर्श की आवश्यकता, उसकी सामाजिक प्रासंगिकता तथा उसके प्रभाव का विश्लेषण किया गया है।

कुंजी शब्द : स्त्री-विमर्श, महिला सशक्तिकरण, लैंगिक समानता, पितृसत्ता, सामाजिक परिवर्तन

प्रस्तावना

समाज के विकास में स्त्री और पुरुष दोनों की समान भूमिका होती है। किंतु इतिहास के लंबे कालखंड में स्त्रियों को पुरुषों की तुलना में कम अधिकार और अवसर प्राप्त हुए। पितृसत्तात्मक व्यवस्था के कारण महिलाओं को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र में अनेक प्रकार की बाधाओं का सामना करना पड़ा।

इसी पृष्ठभूमि में स्त्री-विमर्श का उदय हुआ। स्त्री-विमर्श का उद्देश्य महिलाओं की स्थिति का विश्लेषण करना तथा उनके अधिकारों और सम्मान की स्थापना के लिए संघर्ष करना है। यह केवल साहित्यिक आंदोलन नहीं है, बल्कि सामाजिक चेतना का एक महत्वपूर्ण आयाम है।

भारतीय साहित्य में स्त्री-विमर्श ने विशेष रूप से आधुनिक काल में एक सशक्त स्वर प्राप्त किया। हिंदी साहित्य में कई महिला लेखिकाओं और चिंतकों ने स्त्री के अनुभवों, संघर्षों और आकांक्षाओं को अभिव्यक्ति दी। वर्तमान समय में स्त्री-विमर्श समाज में लैंगिक समानता और महिला सशक्तिकरण के लिए अत्यंत प्रासंगिक हो गया है।

मानव सभ्यता के विकास के साथ-साथ समाज में स्त्री और पुरुष के बीच संबंधों का स्वरूप भी निरंतर बदलता रहा है। प्रारंभिक समाज में स्त्री को अपेक्षाकृत स्वतंत्रता प्राप्त थी, किंतु धीरे-धीरे पितृसत्तात्मक व्यवस्था के सुदृढ़ होने के साथ-साथ स्त्री की स्थिति कमजोर होती चली गई। उसे सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक अधिकारों से वंचित रखा गया।

आधुनिक युग में स्त्री के अधिकारों और समानता के प्रश्न को लेकर जो वैचारिक आंदोलन विकसित हुआ, उसे स्त्री विमर्श या नारीवाद (Feminism) कहा जाता है। स्त्री विमर्श का मूल उद्देश्य समाज में स्त्री-पुरुष के बीच समानता स्थापित करना तथा महिलाओं के अधिकारों की रक्षा करना है।

वर्तमान समय में वैश्वीकरण, शिक्षा के प्रसार, लोकतांत्रिक मूल्यों और मानवाधिकारों की चेतना के कारण स्त्री विमर्श की प्रासंगिकता और भी बढ़ गई है। आज महिलाएँ केवल घरेलू क्षेत्र तक सीमित नहीं हैं, बल्कि वे राजनीति, विज्ञान, साहित्य, प्रशासन, शिक्षा और उद्योग जैसे विभिन्न क्षेत्रों में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं।

फिर भी सामाजिक संरचना में मौजूद पितृसत्तात्मक मानसिकता, लैंगिक भेदभाव, दहेज प्रथा, घरेलू हिंसा और कार्यस्थल पर उत्पीड़न जैसी समस्याएँ आज भी स्त्रियों के सामने बड़ी चुनौती के रूप में मौजूद हैं। ऐसे में स्त्री विमर्श इन समस्याओं को समझने और उनका समाधान खोजने के लिए एक महत्वपूर्ण वैचारिक उपकरण के रूप में कार्य करता है।

स्त्री-विमर्श की अवधारणा

स्त्री-विमर्श का अर्थ है स्त्री के जीवन, अनुभवों, अधिकारों और सामाजिक स्थिति का अध्ययन और विश्लेषण। यह पितृसत्तात्मक समाज द्वारा स्थापित मान्यताओं और संरचनाओं को चुनौती देता है तथा महिलाओं की स्वतंत्रता और समानता की वकालत करता है।

स्त्री-विमर्श का मूल उद्देश्य यह है कि महिलाओं को समाज में समान अधिकार और सम्मान प्राप्त हो। यह विचारधारा यह भी बताती है कि महिलाओं की समस्याएँ केवल व्यक्तिगत नहीं बल्कि सामाजिक संरचना से जुड़ी हुई हैं।

* असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग, डॉ. शकुंतला मिश्र राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय, लखनऊ, उत्तर प्रदेश

स्त्री विमर्श का अर्थ है – समाज में स्त्री की स्थिति, अधिकारों, समस्याओं और अनुभवों का समग्र अध्ययन। यह केवल महिलाओं के अधिकारों की बात नहीं करता, बल्कि समाज में मौजूद लैंगिक असमानताओं की आलोचना भी करता है।

स्त्री विमर्श का मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित है –

1. स्त्री-पुरुष समानता की स्थापना
2. महिलाओं के अधिकारों की रक्षा
3. पितृसत्तात्मक व्यवस्था की आलोचना
4. सामाजिक न्याय और लोकतांत्रिक मूल्यों की स्थापना

पाश्चात्य विचारकों ने स्त्री विमर्श को एक सामाजिक आंदोलन के रूप में विकसित किया, जबकि भारतीय संदर्भ में यह सामाजिक सुधार आंदोलनों और साहित्यिक परंपरा के माध्यम से विकसित हुआ।

स्त्री विमर्श का ऐतिहासिक विकास

स्त्री विमर्श का विकास मुख्यतः तीन चरणों में देखा जाता है –

(1) प्रथम चरण (19वीं सदी)

इस चरण में महिलाओं के बुनियादी अधिकारों जैसे शिक्षा, मतदान और संपत्ति के अधिकार के लिए आंदोलन हुए।

(2) द्वितीय चरण (20वीं सदी)

इस दौर में स्त्री के सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों पर जोर दिया गया।

(3) तृतीय चरण (समकालीन दौर)

इस चरण में स्त्री विमर्श ने जाति, वर्ग, धर्म और संस्कृति के साथ स्त्री की पहचान को भी शामिल किया।

भारतीय समाज में राजा राममोहन राय, ईश्वरचंद्र विद्यासागर और ज्योतिबा फुले जैसे समाज सुधारकों ने स्त्री शिक्षा और विधवा विवाह के समर्थन में महत्वपूर्ण कार्य किया।

हिंदी साहित्य में स्त्री-विमर्श

हिंदी साहित्य में स्त्री-विमर्श का विकास आधुनिक काल में हुआ। प्रारंभिक साहित्य में स्त्री को मुख्यतः आदर्श पत्नी और त्यागमयी माता के रूप में प्रस्तुत किया जाता था, किंतु आधुनिक साहित्य में स्त्री के वास्तविक जीवन और संघर्षों को प्रमुखता मिली।

महादेवी वर्मा की कृति श्रृंखला की कड़ियाँ स्त्री-विमर्श की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण मानी जाती है। इसमें उन्होंने महिलाओं की सामाजिक स्थिति और उनकी समस्याओं का गहन विश्लेषण किया है।

इसी प्रकार मन्नू भंडारी और कृष्णा सोबती ने भी अपने साहित्य में स्त्री जीवन की जटिलताओं को प्रस्तुत किया है।

भारतीय समाज में स्त्री की स्थिति

भारतीय समाज में स्त्री की स्थिति समय के साथ बदलती रही है। प्राचीन काल में महिलाओं को शिक्षा और सम्मान प्राप्त था, किंतु मध्यकाल में उनकी स्थिति में गिरावट आई। आधुनिक काल में शिक्षा, सामाजिक सुधार आंदोलनों और कानूनों के कारण महिलाओं की स्थिति में सुधार हुआ है।

फिर भी वर्तमान समय में महिलाओं को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है, जैसे—

1. लैंगिक भेदभाव
2. घरेलू हिंसा
3. शिक्षा और रोजगार में असमानता
4. सामाजिक रूढ़ियाँ

इन समस्याओं के समाधान के लिए स्त्री-विमर्श महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

भारतीय और पाश्चात्य स्त्री विमर्श की तुलनात्मक चर्चा

स्त्री विमर्श आधुनिक सामाजिक चिंतन का एक महत्वपूर्ण क्षेत्र है, जिसका उद्देश्य समाज में स्त्री की स्थिति, अधिकारों और असमानताओं का अध्ययन करना है। स्त्री विमर्श केवल महिलाओं की समस्याओं का वर्णन नहीं करता, बल्कि यह उन सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक संरचनाओं का भी विश्लेषण करता है जिनके कारण महिलाओं को असमानता का सामना करना पड़ता है।

स्त्री विमर्श का विकास विश्व के विभिन्न देशों में अलग-अलग ऐतिहासिक और सामाजिक परिस्थितियों के आधार पर हुआ है। इसी कारण भारतीय स्त्री विमर्श और पाश्चात्य स्त्री विमर्श के दृष्टिकोण, उद्देश्य और स्वरूप में कुछ समानताएँ होने के साथ-साथ कई महत्वपूर्ण भिन्नताएँ भी देखने को मिलती हैं।

पाश्चात्य स्त्री विमर्श : अवधारणा और विकास

पाश्चात्य देशों में स्त्री विमर्श का विकास मुख्यतः औद्योगिक क्रांति, लोकतांत्रिक आंदोलनों और मानवाधिकार चेतना के प्रभाव से हुआ। पाश्चात्य स्त्री विमर्श का आरंभ 18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ, जब महिलाओं ने शिक्षा, मतदान और संपत्ति के अधिकार के लिए संघर्ष शुरू किया।

पाश्चात्य स्त्री विमर्श के प्रमुख चरण

(1) प्रथम चरण (First Wave Feminism)

19वीं शताब्दी में महिलाओं के मताधिकार और शिक्षा के लिए आंदोलन हुए।

(2) द्वितीय चरण (Second Wave Feminism)

20वीं शताब्दी में महिलाओं के सामाजिक, सांस्कृतिक और यौनिक अधिकारों पर जोर दिया गया।

(3) तृतीय चरण (Third Wave Feminism)

इस चरण में जाति, वर्ग, नस्ल और लैंगिक पहचान जैसे मुद्दों को स्त्री विमर्श में शामिल किया गया।

पाश्चात्य स्त्री विमर्श का मुख्य उद्देश्य व्यक्तिगत स्वतंत्रता, समान अधिकार और लैंगिक समानता की स्थापना करना रहा है।

भारतीय स्त्री विमर्श : अवधारणा और विकास

भारतीय समाज में स्त्री विमर्श का विकास पाश्चात्य देशों से अलग सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों में हुआ है। भारत में स्त्री विमर्श की जड़ें सामाजिक सुधार आंदोलनों में मिलती हैं। 19वीं शताब्दी में राजा राममोहन राय, ईश्वरचंद्र विद्यासागर और ज्योतिबा फुले जैसे समाज सुधारकों ने स्त्री शिक्षा, विधवा विवाह और बाल विवाह उन्मूलन के लिए संघर्ष किया।

भारतीय स्त्री विमर्श केवल लैंगिक समानता तक सीमित नहीं है, बल्कि इसमें जाति, वर्ग, धर्म और संस्कृति जैसे कारकों को भी महत्वपूर्ण माना जाता है।

भारतीय संदर्भ में स्त्री विमर्श का उद्देश्य है –

1. महिलाओं की सामाजिक स्थिति में सुधार
2. शिक्षा और रोजगार के अवसर बढ़ाना
3. पितृसत्तात्मक मानसिकता का विरोध
4. सामाजिक न्याय और समानता की स्थापना

भारतीय और पाश्चात्य स्त्री विमर्श की समानताएँ

भारतीय और पाश्चात्य स्त्री विमर्श के बीच कई समानताएँ भी देखने को मिलती हैं।

(1) लैंगिक समानता की मांग

दोनों विमर्शों का मुख्य उद्देश्य स्त्री और पुरुष के बीच समानता स्थापित करना है।

(2) पितृसत्तात्मक व्यवस्था की आलोचना

दोनों ही विमर्श पितृसत्तात्मक सामाजिक संरचना की आलोचना करते हैं और महिलाओं के अधिकारों की रक्षा की मांग करते हैं।

(3) महिला सशक्तिकरण

दोनों विचारधाराएँ महिलाओं को शिक्षित, आत्मनिर्भर और सशक्त बनाने पर जोर देती हैं।

(4) सामाजिक न्याय

दोनों विमर्श सामाजिक न्याय और मानवाधिकारों की स्थापना को महत्वपूर्ण मानते हैं।

भारतीय और पाश्चात्य स्त्री विमर्श की भिन्नताएँ

सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भ

पाश्चात्य स्त्री विमर्श का विकास औद्योगिक और आधुनिक समाज में हुआ, जबकि भारतीय स्त्री विमर्श का विकास परंपरागत और बहुसांस्कृतिक समाज में हुआ है। इस कारण भारतीय स्त्री विमर्श में परंपरा और आधुनिकता के बीच संतुलन का प्रश्न महत्वपूर्ण हो जाता है।

व्यक्तिगत स्वतंत्रता बनाम सामूहिकता

पाश्चात्य स्त्री विमर्श में व्यक्तिगत स्वतंत्रता और व्यक्तिगत अधिकारों पर अधिक जोर दिया जाता है। इसके विपरीत भारतीय स्त्री विमर्श में परिवार, समाज और सामूहिक मूल्यों को भी महत्व दिया जाता है।

जाति और वर्ग का प्रश्न

पाश्चात्य स्त्री विमर्श मुख्यतः लैंगिक समानता पर केंद्रित रहा है, जबकि भारतीय स्त्री विमर्श में जाति, वर्ग और धर्म जैसे मुद्दों को भी शामिल किया जाता है। भारत में दलित और आदिवासी महिलाओं की समस्याएँ सामान्य महिलाओं से भिन्न होती हैं, इसलिए भारतीय स्त्री विमर्श में इन मुद्दों पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

साहित्यिक अभिव्यक्ति

पाश्चात्य स्त्री विमर्श में सिमोन द बोउवार, केट मिलेट और जुडिथ बटलर जैसे विचारकों ने सैद्धांतिक स्तर पर महत्वपूर्ण योगदान दिया। भारतीय साहित्य में महादेवी वर्मा, मन्नू भंडारी, कृष्णा सोबती और मैत्रेयी पुष्पा जैसी लेखिकाओं ने स्त्री जीवन के अनुभवों को साहित्य के माध्यम से व्यक्त किया।

समकालीन परिप्रेक्ष्य में तुलनात्मक विश्लेषण

आज के वैश्विक युग में भारतीय और पाश्चात्य स्त्री विमर्श के बीच संवाद और आदान-प्रदान बढ़ रहा है। वैश्वीकरण, शिक्षा और संचार क्रांति के कारण महिलाओं की समस्याएँ और अनुभव अब वैश्विक स्तर पर साझा किए जा रहे हैं। फिर भी प्रत्येक समाज की सांस्कृतिक और सामाजिक विशेषताओं के कारण स्त्री विमर्श का स्वरूप अलग-अलग बना रहता है। भारतीय स्त्री विमर्श को अपनी सांस्कृतिक पहचान को बनाए रखते हुए महिलाओं के अधिकारों और समानता के लिए संघर्ष करना पड़ता है।

भारतीय और पाश्चात्य स्त्री विमर्श दोनों ही समाज में लैंगिक समानता और महिलाओं के अधिकारों की स्थापना के लिए महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। हालाँकि दोनों के ऐतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भ अलग-अलग हैं, फिर भी उनका मूल उद्देश्य समान है – समानता, स्वतंत्रता और न्याय की स्थापना। वर्तमान समय में आवश्यक है कि इन दोनों विमर्शों के सकारात्मक पहलुओं को अपनाकर एक समावेशी और न्यायपूर्ण समाज का निर्माण किया जाए, जहाँ स्त्री और पुरुष दोनों को समान अवसर और सम्मान प्राप्त हो सके।

वर्तमान समय में स्त्री-विमर्श की प्रासंगिकता

(1) महिला सशक्तिकरण

स्त्री-विमर्श महिलाओं को अपने अधिकारों के प्रति जागरूक बनाता है। शिक्षा, रोजगार और राजनीतिक भागीदारी के माध्यम से महिलाओं को सशक्त बनाने में यह महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

(2) लैंगिक समानता की स्थापना

आज भी समाज में पुरुष और महिला के बीच असमानता देखने को मिलती है। स्त्री-विमर्श इस असमानता को समाप्त करने और समान अवसर प्रदान करने की दिशा में कार्य करता है।

(3) सामाजिक रूढ़ियों का विरोध

पितृसत्तात्मक समाज में कई ऐसी परंपराएँ और मान्यताएँ हैं जो महिलाओं की स्वतंत्रता को सीमित करती हैं। स्त्री-विमर्श इन रूढ़ियों का विरोध करता है और समाज में नई सोच को विकसित करता है।

(4) साहित्य में स्त्री अनुभवों की अभिव्यक्ति

हिंदी साहित्य में स्त्री-विमर्श ने महिलाओं के अनुभवों और संघर्षों को प्रमुखता से प्रस्तुत किया है। कई लेखिकाओं ने अपने लेखन के माध्यम से स्त्री जीवन की वास्तविकताओं को उजागर किया है। इस संदर्भ में महादेवी वर्मा और मैत्रेयी पुष्पा जैसी लेखिकाओं का योगदान उल्लेखनीय है।

(5) सामाजिक न्याय की दिशा में योगदान

स्त्री-विमर्श सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए भी महत्वपूर्ण है। यह महिलाओं के अधिकारों की रक्षा और समान अवसर प्रदान करने की दिशा में समाज को जागरूक करता है।

स्त्री विमर्श के समक्ष चुनौतियाँ

1. हालाँकि आज स्त्री विमर्श का प्रभाव बढ़ रहा है, फिर भी कई चुनौतियाँ मौजूद हैं –
2. पितृसत्तात्मक मानसिकता
3. लैंगिक भेदभाव
4. घरेलू हिंसा
5. दहेज प्रथा
6. कार्यस्थल पर उत्पीड़न

इन समस्याओं के कारण महिलाओं की प्रगति में बाधाएँ उत्पन्न होती हैं।

स्त्री सशक्तिकरण और सामाजिक परिवर्तन

स्त्री सशक्तिकरण सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया का महत्वपूर्ण अंग है। जब महिलाएँ शिक्षित, आत्मनिर्भर और जागरूक होती हैं, तब समाज का समग्र विकास संभव होता है।

संयुक्त राष्ट्र संघ ने भी लैंगिक समानता को सतत विकास लक्ष्यों (SDGs) में शामिल किया है।

5. निष्कर्ष

वर्तमान समय में स्त्री-विमर्श अत्यंत प्रासंगिक विषय है। यह केवल महिलाओं की समस्याओं को उजागर करने तक सीमित नहीं है, बल्कि समाज में समानता, न्याय और मानवाधिकारों की स्थापना का मार्ग भी प्रशस्त करता है।आज के वैश्विक

और लोकतांत्रिक समाज में महिलाओं की भागीदारी और सशक्तिकरण आवश्यक है। इसलिए स्त्री-विमर्श को सामाजिक परिवर्तन और विकास के महत्वपूर्ण साधन के रूप में देखा जाना चाहिए।

अध्ययन से स्पष्ट होता है कि वर्तमान समय में स्त्री विमर्श की प्रासंगिकता अत्यंत महत्वपूर्ण है। यह केवल महिलाओं के अधिकारों की बात नहीं करता, बल्कि सामाजिक न्याय, समानता और लोकतांत्रिक मूल्यों की स्थापना का माध्यम भी है।

आज आवश्यकता इस बात की है कि समाज में लैंगिक समानता की भावना को मजबूत किया जाए तथा महिलाओं को शिक्षा, रोजगार और निर्णय-निर्माण की प्रक्रिया में समान अवसर प्रदान किए जाएँ। स्त्री विमर्श एक वैचारिक आंदोलन होने के साथ-साथ सामाजिक परिवर्तन की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है।

संदर्भ-सूची

1. शर्मा, कुमुद. स्त्री-विमर्श का स्वरूप. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, 2012, पृ. 45–52.
2. गुप्ता, मृदुला. नारी विमर्श और हिंदी साहित्य. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 2015, पृ. 80–92.
3. वर्मा, महादेवी. श्रृंखला की कड़ियाँ. इलाहाबाद: लोकभारती प्रकाशन, 2008, पृ. 12–25.
4. पुष्पा, मैत्रेयी. खुली खिड़कियाँ. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 2010, पृ. 55–63.
5. चतुर्वेदी, जगदीश्वर. स्त्री विमर्श: भारतीय परिप्रेक्ष्य. दिल्ली: राधाकृष्ण प्रकाशन, 2014, पृ. 101–115.
6. सिंह, नामवर. हिंदी आलोचना की परंपरा. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, 2009, पृ. 150–160.
7. पांडेय, रामचंद्र. समकालीन हिंदी साहित्य और नारी विमर्श. वाराणसी: विश्वविद्यालय प्रकाशन, 2016, पृ. 70–82.
8. मिश्र, उर्मिला. भारतीय समाज और नारी. जयपुर: पंचशील प्रकाशन, 2013, पृ. 40–49.

झारखण्ड के जंगल और उद्योग : संभावनाएं, संतुलन और सतत विकास

डॉ. हिमांशु प्रभाकर*

सारांश-

झारखंड की अर्थव्यवस्था और पहचान उसके सघन वनों और प्रचुर खनिज संसाधनों पर टिकी है। जहाँ एक ओर यहाँ के उद्योग (जैसे इस्पात और खनन) देश के विकास में योगदान देते हैं, वहीं दूसरी ओर जंगलों का कटना पर्यावरण और आदिवासी समुदायों के लिए चुनौती है। सतत विकास के लिए औद्योगिक प्रगति और पारिस्थितिकीय संतुलन के बीच तालमेल जरूरी है। आधुनिक तकनीक, वनीकरण (Afforestation) और स्थानीय समुदायों की भागीदारी के जरिए हम पर्यावरण को नुकसान पहुँचाए बिना आर्थिक लाभ प्राप्त कर सकते हैं। झारखंड के उज्ज्वल भविष्य के लिए संसाधनों का जिम्मेदारीपूर्ण उपयोग ही एकमात्र विकल्प है।

बीज शब्द (key words) : *प्राकृतिक संसाधन (Natural Resources), औद्योगीकरण (Industrialization), पारिस्थितिक संतुलन (Ecological Balance), सतत विकास (Sustainable Development), खनिज संपदा (Mineral Wealth), वनीकरण (Afforestation)*

भूमिका

झारखण्ड भारत के सबसे प्राकृतिक-संपन्न राज्यों में से एक है। इसकी पहचान केवल जंगल और पहाड़ों से नहीं, बल्कि खनिज संपदा, उद्योग और आदिवासी संस्कृति से भी जुड़ी हुई है। एक ओर घने वनों से ढंकी पहाड़ियाँ, वन्यजीवों का निवास, झरने, नदियाँ और प्राकृतिक संपदा है, वहीं दूसरी ओर लौह अयस्क, कोयला, तांबा, बॉक्साइट, अभ्रक और यूरेनियम जैसी समृद्ध प्राकृतिक संपदा ने झारखण्ड को भारत के औद्योगिक विकास की रीढ़ बना दिया है। परंतु जंगल बनाम उद्योग का यह विरोधाभास आज झारखण्ड के विकास का सबसे जटिल मुद्दा भी है। जहाँ जल, जंगल और ज़मीन जीवन, जलवायु और संस्कृति का आधार हैं, वहीं उद्योग, आर्थिक विकास, ऊर्जा और रोजगार के स्रोत हैं। यदि उद्योग बढ़ते हैं तो जंगल सिकुड़ते हैं और यदि जंगल बचते हैं तो औद्योगिक विस्तार सीमित होता है। यही संघर्ष झारखण्ड को सतत विकास की बहस के केंद्र में लाता है।

झारखण्ड भारत का वह राज्य है जिसके निर्माण के पीछे की मूल भावनाएँ, उसकी सांस्कृतिक विशिष्टता, प्राकृतिक संपदा और आदिवासी समाज की पहचान को संरक्षित रखने से जुड़ी थीं। यह राज्य खनिज संपदा, वनाच्छादित भूभाग और जल संसाधनों से अत्यंत समृद्ध है, परन्तु विडंबना यह रही है कि विकास के नाम पर सबसे अधिक नुकसान भी इन्हीं तत्वों को हुआ है। खनन और औद्योगिक गतिविधियों का फैलाव जहाँ आर्थिक समृद्धि में योगदान देता है, वहीं दूसरी ओर इससे वनों का क्षरण, प्रदूषण, विस्थापन और सामाजिक असंतुलन बढ़ता है।

* E-mail id-himanshungo@gmail.com, Mob-8789832100

आज झारखण्ड के सामने सबसे बड़ी चुनौती यही है कि जंगल और उद्योग के बीच संतुलन कैसे बनाया जाए, ताकि दोनों एक-दूसरे को न नष्ट करें, बल्कि सतत विकास के वाहक बन सकें।

1. झारखण्ड का ऐतिहासिक और भौगोलिक परिप्रेक्ष्य

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

झारखण्ड की पहचान सदियों से जंगलों और आदिवासी संस्कृति से जुड़ी रही है। "झाड़" शब्द का अर्थ है-'जंगल' और "खंड" का अर्थ है 'भाग' यानी "झारखण्ड" खुद "जंगलों का प्रदेश" को दर्शाता है। इतिहास में कई जनजातियाँ संथाल, उराँव, मुण्डा, हो, असुर, बिरजिया इत्यादि इस क्षेत्र में बस्तियाँ बनाकर रहती आयी हैं। ब्रिटिश काल में यहाँ के जंगलों को 'वन अधिनियम' के तहत सरकारी नियंत्रण में लिया गया जिससे आदिवासी समाज और राज्य के बीच संघर्ष बढ़ा। औपनिवेशिक शासन ने खनिज संसाधनों का दोहन शुरू किया।

भौगोलिक विशेषताएँ

झारखण्ड का भूगोल उसे भारत का प्राकृतिक और खनिज केंद्र बनाता है। यह मुख्यतः छोटानागपुर पठार पर स्थित है। यहाँ का भूभाग पथरीला, पहाड़ी और खनिजों से भरपूर है। राज्य का 29% हिस्सा जंगलों से ढका है जो राष्ट्रीय औसत से काफी अधिक है। यहाँ की जलवायु उष्णकटिबंधीय है जो साल जैसे वृक्षों की वृद्धि के लिए अनुकूल है।

झारखण्ड के जंगल: प्रकृति का अनुपम उपहार

इनमें सबसे प्रमुख हैं-उष्णकटिबंधीय पर्णपाती वन, सूखे पर्णपाती वन, बाँस, झुरमुट, नदी किनारे के वन इत्यादि। वनों का वितरण-सिंहभूम, सरायकेला, पलामू, गुमला, लातेहार, रांची, हजारीबाग इत्यादि क्षेत्रों में घने जंगल पाए जाते हैं। झारखण्ड के जंगल विविध प्रकार की वनस्पतियों से समृद्ध हैं। इनमें प्रमुख हैं- साल (झारखण्ड का प्रमुख और मूल्यवान वृक्ष) सागौन, सखुआ, महुआ, बांस, कुसुम, अर्जुन, बेल, तेंदू, करंज इत्यादि। इन वृक्षों का आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्य अत्यंत महत्वपूर्ण है। साल के जंगल, प्रदेश की प्राकृतिक पहचान हैं। महुआ और तेंदूपत्ता आदिवासी अर्थव्यवस्था का आधार हैं। महुआ और लाह तो कई गाँवों की आय का मुख्य स्रोत हैं। झारखण्ड जैव विविधता के मामले में भारत के समृद्ध राज्यों में शामिल है। स्तनधारियों में बाघ (पलामू टाइगर रिजर्व), तेंदुआ, हाथी, भालू, चिंकारा, जंगली बिल्ली, लोमड़ी, जंगली कुत्ता इत्यादि। पक्षी में मोर, हॉर्नबिल, वन हंस, गरुड़, तोता, कठफोड़वा, सरीसृप में अजगर, नाग, कोबरा, मॉनिटर लिज़ार्ड, औषधीय पौधे में अश्वगंधा, हर्रा, बहेरा, आंवला, गुडूची, सर्पगंधा, लोध इत्यादि। ये पौधे आयुर्वेदिक चिकित्सा और औषधि उद्योग के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। जंगल और अभ्यारण्य में पलामू टाइगर रिजर्व भारत के सबसे पुराने बाघ अभ्यारण्यों में से एक है। डालमा अभ्यारण्य हाथी कॉरिडोर का महत्वपूर्ण हिस्सा है। हजारीबाग वाइल्डलाइफ सेंक्चुरी विविध वन्यजीवों का निवास है। ये जंगल झारखण्ड को पारिस्थितिक रूप से महत्वपूर्ण बनाते हैं। यह जंगल भोजन, दवा, ईंधन, पशुचारा और व्यवसायिक वनोपज के मुख्य स्रोत हैं। यहाँ के आदिवासी-महुआ, तेंदूपत्ता, शहद, लाह, बांस जैसी वस्तुओं पर निर्भर रहते हैं। जंगल, वर्षा जल को धरती में समाहित करते हैं जिससे नदियाँ और कुएँ साल भर जल से भरे रहते हैं। जंगल, कार्बन डाइऑक्साइड को अवशोषित करते हैं और जलवायु को संतुलित रखते हैं।

झारखण्ड की खनिज संपदा: औद्योगिक विकास की नींव

झारखण्ड औद्योगिक विकास की अपार संभावनाओं वाला राज्य है। यहाँ की खनिज संपदा ने इसे भारत के प्रमुख औद्योगिक क्षेत्रों में स्थान दिलाया है। झारखण्ड को भारत का **खनिज राज्य** कहा जाता है। यहाँ देश के कुल खनिजों का लगभग **40% भंडार** है। बोकारो, धनबाद, जमशेदपुर, रांची और रामगढ़ जैसे क्षेत्र उद्योगों के प्रमुख केंद्र हैं। लौह और इस्पात उद्योग झारखण्ड की अर्थव्यवस्था की रीढ़ है।1907 में टाटा स्टील की स्थापना ने झारखण्ड को औद्योगिक मानचित्र पर ला दिया। टाटा स्टील (जमशेदपुर), बोकारो स्टील प्लांट जैसे बड़े उद्योग न केवल राज्य को राजस्व देते हैं, बल्कि लाखों लोगों को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रोजगार भी प्रदान करते हैं। कोयला खनन, ऊर्जा उत्पादन, सीमेंट, एल्युमिनियम और बिजली उद्योग भी राज्य की औद्योगिक क्षमता को बढ़ाते हैं। कोल इंडिया लिमिटेड की कई सहायक कंपनियाँ यहाँ कार्यरत हैं-बी.सी.सी.एल, सी.सी.एल, ई.सी.एल.। यह क्षेत्र देश के बिजली उत्पादन का 25% हिस्सा पूरा करता है। खनिज, झारखण्ड की अर्थव्यवस्था की रीढ़ हैं। इनसे बिजली उत्पादन, इस्पात उद्योग, सीमेंट उद्योग, एल्युमिनियम एवं मशीनरी उद्योग से जुड़ा हुआ है। राज्य सरकार को रॉयल्टी और कर के रूप में भारी राजस्व मिलता है। इसके अलावा हाल के वर्षों में झारखण्ड में लघु और मध्यम उद्योगों, खाद्य प्रसंस्करण, हस्तशिल्प, पर्यटन और आईटी आधारित सेवाओं की भी संभावनाएं बढ़ी हैं। यदि सही नीति और निवेश मिले तो झारखण्ड एक संतुलित औद्योगिक राज्य बन सकता है। इसके बाद खनन, रेलमार्ग, बिजली, ऊष्मा विद्युत परियोजनाएँ और अन्य उद्योग तेज़ी से बढ़ते गए। उपर्युक्त ऐतिहासिक पृष्ठभूमि ने झारखण्ड को दो ध्रुवों में बांटा-

1. प्रकृति-आधारित सभ्यता
2. संसाधन-आधारित औद्योगिकीकरण

वन अधिकार और कानूनों का कमजोर कार्यान्वयन

वन अधिकार कानून, 2006

जंगलों पर आदिवासी अधिकारों की गारंटी देता है, परंतु झारखण्ड में आवेदन निरस्त किए जाते हैं। लघु वनोपज (MFP) पर समुदाय को अधिकार मिलने से आय बढ़ेगी, जंगल संरक्षित होंगे, अवैध कटाई कम होगी, क्योंकि लोग स्वयं अपने जंगलों को बचाने में रुचि रखते हैं।

पेसा कानून ग्राम सभा को अधिकार देता है कि वह जंगल प्रबंधन, भूमि अधिग्रहण, खनिज पट्टा, जलस्रोत संरक्षण पर अंतिम निर्णय ले, परन्तु कई परियोजनाओं में ग्राम सभा की अनुमति ली ही नहीं गई।

पर्यावरण प्रभाव आकलन (EIA)

कागज़ में तो नियम कठोर हैं, लेकिन ज़मीनी स्तर पर अनदेखी होती है। झारखण्ड का जंगल-उद्योग संघर्ष केवल पर्यावरणीय नहीं, बल्कि सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा स्वास्थ्य हर स्तर पर गंभीर है। इस स्थिति में संतुलन बनाना ही असली चुनौती है।

समुदाय आधारित वन प्रबंधन (Community Forest Management)

आदिवासी समाज जंगलों के प्रबंधन में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। सामुदायिक वन प्रबंधन मॉडल को मजबूत किया जाए तो जंगल स्थायी रूप से सुरक्षित रह सकते हैं।

समाधान और संभावनाएँ: क्या जंगल और उद्योग साथ-साथ चल सकते हैं?

झारखण्ड में जंगल और उद्योग दो परस्पर विरोधी पक्षों की तरह दिखाई देते हैं, परंतु एक संतुलित नीति-व्यवस्था, आधुनिक तकनीक, समुदाय की भागीदारी और पर्यावरणीय जागरूकता से यह संभव है कि दोनों एक साथ टिकाऊ तरीके से आगे बढ़ें।

ग्रीन इंडस्ट्री और पर्यावरण-अनुकूल तकनीक

आधुनिक उद्योगों में कई ऐसी तकनीकें उपलब्ध हैं जो प्रदूषण को कम कर सकती हैं और खनन को नियंत्रण में रख सकती हैं।

Zero Liquid Discharge (ZLD) तकनीक

इसके द्वारा औद्योगिक अपशिष्ट जल को शुद्ध कर पुनः उपयोग में लाया जाता है, न कि नदी/ताल छोड़ा जाता है। यह पद्धति जल प्रदूषण को लगभग समाप्त कर देती है।

Dust Suppression Systems

कोयला खदानों, ट्रकों और मशीनरी के कारण उठती धूल को कम करने के लिए स्वचालित पानी छिड़काव, रसायन आधारित धूल नियंत्रक, बंद कन्वेयर जैसे सिस्टम अपनाए जा सकते हैं।

Eco-Friendly Mining (पर्यावरणीय खनन)

एक खंड में खनन, साथ ही दूसरे खंड में पुनर्वनीकरण, खनन क्षेत्र को चरणबद्ध तरीके से पुनर्स्थापित करना, सतह खनन में सीमित विस्फोट, यह खनन को नियंत्रित रूप से आगे बढ़ाने का वैज्ञानिक तरीका है।

Renewable Energy की ओर बदलाव

झारखण्ड में सौर ऊर्जा, बायोमास, लघु जल विद्युत, पवन ऊर्जा (कुछ उच्च पठारी क्षेत्रों में) का उपयोग बढ़ाकर कोयले पर निर्भरता कम की जा सकती है।

खनन क्षेत्रों का पुनर्वास और वनीकरण

खनन कार्य समाप्त होने के बाद भूमि को पुनर्जीवित करना आवश्यक है।

वैज्ञानिक वनीकरण मॉडल

खनन के बाद गड्ढों को मिट्टी भरकर वहाँ साल, बांस, सागौन, कुसुम, अर्जुन जैसे स्थानीय प्रजातियों का रोपण कर जंगल पुनः विकसित किया जा सकता है।

मिट्टी संरक्षण तकनीक

ट्रेंच और बांध, चेकडैम, कंटूर लाइन रोपण, वर्षाजल संचयन जैसे तकनीक पहाड़ी और ढलान वाले क्षेत्रों में मिट्टी के कटाव को रोकती हैं।

ईको-टूरिज्म: जंगल बचाओ, रोजगार बढ़ाओ

झारखण्ड की प्राकृतिक सुंदरता ईको-टूरिज्म के लिए अत्यंत उपयुक्त है। इसके लिए संभावित क्षेत्र नेतरहाट, हिरणी, मुरगा महादेव, दूधनाथ, लुगू पहाड़, बेतला राष्ट्रीय उद्यान, दाल्मा अभ्यारण्य इत्यादि हैं। इसके लाभ के रूप में वनों का संरक्षण, स्थानीय युवाओं के लिए रोजगार, हस्तशिल्प और संस्कृति को बढ़ावा, सरकारी राजस्व में वृद्धि होगी।

वन्यजीव संरक्षण और Corridor प्रबंधन

विशेष रूप से **हाथियों**, **बाघों** और **अन्य वन्यजीवों** की सुरक्षा हेतु नीति बनाना जरूरी है।

हाथी कॉरिडोर का वैज्ञानिक पुनर्गठन

खनन या सड़क निर्माण में हाथियों के मार्ग को ध्यान में रखना, वन क्षेत्रों को जोड़ने वाले जैविक गलियारे बनाना, गाँवों में सौर बाड़ और अलार्म सिस्टम, भोजन और जल के प्राकृतिक स्रोतों की बहाली करनी चाहिए।

निष्कर्ष (Conclusion)

झारखण्ड की पहचान, उसके घने जंगलों विस्तृत पहाड़ियों, समृद्ध जैव विविधता और आदिवासी संस्कृति से है, लेकिन इसी के साथ झारखण्ड भारत के औद्योगिक विकास और खनिज संपदा का केंद्र भी है। प्रकृति बनाम उद्योग का यह विरोधाभास झारखण्ड को देश का सबसे जटिल विकास मॉडल बनाता है। जंगल झारखण्ड के पर्यावरणीय संतुलन, जलवायु, वन्यजीव, सामाजिक संरचना और आदिवासी संस्कृति की नींव हैं।

दूसरी ओर उद्योग आर्थिक विकास, रोजगार, ऊर्जा उत्पादकता और बुनियादी ढाँचे के विस्तार के लिए महत्वपूर्ण हैं। परंतु समस्या तब उत्पन्न होती है, जब उद्योग अनियंत्रित तरीके से बढ़ते हैं और जंगलों, जलस्रोतों और समुदायों के जीवन पर गहरा नकारात्मक असर डालते हैं।

खनन से भूमि बंजर होती है, नदियाँ प्रदूषित होती हैं, वन्यजीवों के घर समाप्त होते हैं और स्थानीय समुदाय विस्थापन का शिकार होते हैं। झारखण्ड के कई क्षेत्र इसका उदाहरण हैं- धनबाद की कोयला खदानें, सिंहभूम का लौह अयस्क क्षेत्र, जादूगोड़ा का यूरेनियम क्षेत्र, और पलामू का सूखता जंगल।

इन सब चुनौतियों के बीच एक सवाल उभरता है कि क्या झारखण्ड जंगल बचाते हुए औद्योगिक विकास कर सकता है? उत्तर है—हाँ, यदि विकास संतुलित, वैज्ञानिक और समावेशी तरीके से किया जाए। सतत विकास वही है जिसमें पर्यावरण सुरक्षित हो, समाज को नुकसान न पहुंचे, अर्थव्यवस्था आगे बढ़े

झारखण्ड इस दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठा सकता है- ग्रीन इंडस्ट्री समुदाय आधारित वन प्रबंधन पुनर्वनीकरण ईको-टूरिज्म वन उपज आधारित व्यवसाय जैविक कृषि और शिक्षा तथा कौशल विकास के माध्यम से। यदि सरकार उद्योग स्थानीय लोग वैज्ञानिक और नागरिक समाज मिलकर काम करें तो झारखण्ड आने वाले वर्षों में जंगलों का राज्य भी रहेगा और उद्योगों का केंद्र भी। संतुलन यही है-जहां जंगल भी सुरक्षित रहें और उद्योग भी विकसित हों। यही झारखण्ड का सतत भविष्य है।

सन्दर्भ सूची (Reference)

1. Forest Survey of India. (2021). *India State of Forest Report Jharkhand Chapter*. Ministry of Environment, Forest & Climate Change, Government of India.
• Jharkhand Forest Cover: Chapter–2
• Biodiversity & Forest Type: Chapter–3
2. *Jharkhand Economic Survey 2021–22*. Finance Department, Government of Jharkhand.
• Mining & Industry: Chapter–4
• Environment & Forest: Chapter–9
3. Central Pollution Control Board (CPCB)

CPCB. (2020). *Environmental Status of Industrial Clusters – Dhanbad & Bokaro*. Ministry of Environment, Forest & Climate Change.
• Air Quality Index Data: Section–3
• Water Quality Findings: Section–4
4. Coal India Limited. (2021). *Sustainability & Environmental Management Report*. Coal India Corporate Office, Kolkata.
• Mine Closure & Rehabilitation: Section–6
• CSR Expenditure: Section–8
5. Wildlife Institute of India. (2017). *Status of Elephant Corridors in Eastern India*. Ministry of Environment, Forest & Climate Change.
• Jharkhand Elephant Corridors: Chapter–5
6. National Tiger Conservation Authority (NTCA, 2018). *Management Effectiveness Evaluation of Tiger Reserves – Palamau Tiger Reserve Report*. National Tiger Conservation Authority, New Delhi.
• Water Scarcity & Habitat Issues: Chapter–4
• Conservation Measures: Chapter–6
7. Ministry of Tribal Affairs. (2019). *Status Report on Forest Rights Act (FRA) Implementation*. Government of India.
• Jharkhand FRA Status: State Profiles Section
8. EPW – Jadugoda Uranium Study
Mishra, D. (2016). "Health Impacts of Uranium Mining in Jadugoda, Jharkhand." *Economic and Political Weekly*, 51(8).
• Radiation Exposure: Section–2
• Community Health Survey: Section–4
9. Prasad, R. (2014). "Forest Dependency and Livelihood Patterns of Tribal Communities in Jharkhand." *Indian Journal of Social Development*, 14(2).
• Tribal Culture & Forest Use: Section–3
10. Down To Earth Magazine (CSE) ,Centre for Science and Environment (CSE). (2019). "Mining and Pollution in Jharkhand." *Down To Earth Special Report.*
• Dhanbad Coal Belt: Part–1
• Water Pollution: Part–3
11. Guha, Ramachandra. (2000). *The Unquiet Woods: Ecological Change and Peasant Resistance in the Himalaya*. Oxford University Press.
12. Fernandes, Walter. (2009). *Land Acquisition, Displacement and Resettlement in India*. Indian Social Institute, New Delhi.